स्वराज्य-शास्त्र

वि नो बा

अनुवादक

दादा धर्माधिकारी

कुंदर दिवाण

१९५०

सस्ता साहित्य मण्डल-प्रकाशन

प्रकाशक
मार्तण्ड उपाध्याय, मन्त्री
सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली

दूसरी बार १९५०
मूल्य
एक रुपया

मुद्रक
श्री देवीप्रसाद शर्मा
हिन्दुस्तान टाइम्स प्रेस
नई दिल्ली

निवेदन

स्वराज्य-शास्त्र-संबंधी इस छोटेसे टिप्पण की कल्पना दरअसल नागपुर जेल मे की गई थी। उसी को कुछ सुधार कर पाठको के सामने रक्खा जाता है। मुझे कहना चाहिए कि अगर श्री बियाणीजी इसे आदरपूर्वक ही नही, बल्कि आग्रहपूर्वक भी, खुद 'कलमनवीस' बनकर मुझसे न कहलवाते तो कम-से-कम फिलहाल इसके साकार होने की बहुत सम्भावना नही थी।

'राज्य' एक बात है 'स्वराज्य' दूसरी बात है। राज्य हिसा से प्राप्त किया जा सकता है, किन्तु 'स्वराज्य' बिना अहिसा के असम्भव है। इसलिए जो विचारशील है वे 'राज्य' को नही चाहते, बल्कि यह कहकर तडपते रहते है कि 'आओ, हम सब स्वराज्य के लिए जतन करे।' "नत्वहं कामये राज्यम्" यह उनका निषेधक और "यतेमहि स्वराज्ये"—यह विधायक राजनैतिक उद्घोष उनका होता है।

'स्वराज्य' वैदिक परिभाषा का एक शब्द है। उसकी व्याख्या इस प्रकार की जाती है स्वराज्य माने प्रत्येक व्यक्ति का राज्य, यानी ऐसा राज्य जो प्रत्येक को 'अपना' लगे, अर्थात् सबका राज्य, दूसरे शब्दो मे 'रामराज्य'।

स्वराज्य-शास्त्र नित्य-वर्धिष्णु है, अत उसकी पद्धति देश-कालानुसार सतत परिवर्तनशील है, परन्तु उसके मूलतत्त्व

शाश्वत है । उन शाश्वतो के आधार पर यह रूपरेखा खीची गई है । यह तो कहना नही होगा कि इसका विस्तार जितना चाहो किया जा सकता है । इस काम को यथासम्भव व यथावश्यक भविष्यकाल के हवाले कर, फिलहाल, यही विराम करना ठीक रहेगा ।

नालवाडी
२-२-४२

—विनोबा

विषय-सूची

प्रश्न तीसरा

२

३

४

स्वराज्य-शास्त्र

स्वराज्य-शास्त्र

प्रश्न पहला

प्रश्न–आज ससार मे कितने और किस प्रकार के राज-नैतिक विचार प्रचलित है ?

१

राजनैतिक प्रश्न किसे कहते है ?

उत्तर–[१] सबसे पहले हम यही देख ले कि राजनैतिक विचार तत्त्वत कितने प्रकार के हो सकते है । तत्त्वत जितने प्रकार हो सकते है, उनकी अपेक्षा आज के प्रचलित प्रकार या तो कम होगे या उतने सब होगे । उनसे अधिक नही हो सकते । लेकिन इसका उत्तर भी इस प्रश्न पर निर्भर है कि राजनैतिक विचार कहते किसे है ? इसलिए पहले उसी प्रश्न के विवेचन से हम शुरूआत करे ।

ससार मे अगर एक ही मनुष्य होता तो उसके सामने राजनैतिक विचार का प्रश्न ही उपस्थित नही होता । उसके सामने सिर्फ इतना ही सवाल होता कि अपना जीवन चलाने के लिए वह आसपास की सृष्टि का कितना और कैसा उपयोग करे, लेकिन मनुष्यो का तो एक समूह विद्यमान है । इसलिए उसके सामने इस भौतिक प्रश्न के अतिरिक्त दूसरा सामाजिक प्रश्न भी आता है । अर्थात् इस प्रश्न के अलावा

कि सृष्टि पर अधिकार कैसे किया जाय, एक दूसरा भी उतने ही महत्त्व का प्रश्न शेष रह जाता है। वह यह कि आपस में व्यवस्था कैसे कायम की जाय? इस दूसरे प्रश्न मे से ही हम जिसे राजनैतिक विचार कहते हैं, उसका उद्गम होता है।

पारस्परिक व्यवस्था का पहला प्रश्न यह है कि मनुष्य की मिलकियत—जिसमे जमीन और तदितर दोनो शामिल हैं—आपस मे कैसे बाटी जाय? और दूसरा प्रश्न यह है कि मनुष्य अपने पारस्परिक व्यवहार मे समाज के मानसिक सुख-दुःख का सन्तुलन कैसे सम्भाले? पहले प्रश्न को मुख्यत राजनैतिक प्रश्न कहते है और दूसरे को सामाजिक परन्तु ये दोनो हमेशा एक-दूसरे से अलग नही किये जा सकते। इसलिए व्यापक दृष्टि से राजनैतिक प्रश्न मे ही आखिर दोनो का समावेश हो जाता है। साराश, 'राजनैतिक प्रश्न मान मानव-समूह या मानव-समूहो की व्यवस्था का प्रश्न'—यह उसकी सक्षिप्त परिभाषा बनती है।

राजनैतिक प्रश्न की प्रचलित कृत्रिम व्याख्याएं

[२] (अ) आज मनुष्य-समाज मे उच्च वर्ग, मध्यम वर्ग और निम्न वर्ग ये तीन वर्गभेद अकारण किये जाते है और ये तीन वर्ग पारस्परिक व्यवस्था किस प्रकार करे, ऐसा राजनैतिक प्रश्न का कृत्रिम अर्थ किया जाता है। (आ) हिन्दू-समाज मे कार्य-विभागानुसार वर्ण-विभाग की कल्पना की गई है और ये वर्ग आपस में व्यवस्था कैसे कायम करे, यह राजनैतिक प्रश्न

का दूसरा एक कृत्रिम अर्थ किया जाता है। (इ) ससार मे कुछ लोगो के पास सम्पत्ति इकट्ठी हो गई है और कुछ लोग उससे वञ्चित है। आज की इस स्थिति के लिहाज से धनी और गरीब, इन या इस तरह के दो वर्गों की कल्पना करके ये दोनो आपस म व्यवस्था किस तरह कायम करे, यह राजनैतिक प्रश्न का और भी एक कृत्रिम अर्थ किया जाता है।

इन तीनो व्याख्याओ को कृत्रिम इसलिए कहा है कि उनकी सृष्टि काल्पनिक या अ-मूलभूत भेद की नीव पर है। 'ऊपर', 'नीचे' और 'बीच' का अर्थ कल्पना के सिवा कुछ भी नहीं है। तीन, चार या अधिक वर्ण हमारे ही बनाय हुए है। इसलिए उनके आधार पर रची गई विचारप्रणाली भी काल्पनिक, यान हमारा कल्पना की ही है। और जहा वह पाई जाती ह, वहाँ अगर उसे मि-या के अर्थ मे काल्पनिक न कहे ता भी वह मूलभत तो हरगिज नही है। धनवान और गरीब के भेद का काल्पनिक कहना मुश्किल मालूम होता हो तो भी वह मूलभूत भद तो कतइ नही है। अर्थात् वह कारणरूप नही ह, कारणविशेष का काय ह। और सू-म विचार किया जाय तो यह भद काल्पनिक भी है। याने धनवान को रुपये-पैसे क कारण धनवान और गरीब को रुपये-पैसे के कारण गरीब कहे तो इसके विपरीत, गरीब श्रमशक्ति की दृष्टि से धनवान और आज का धनवान कहलानेवाला श्रमशक्ति की दृष्टि से गरीब कहा जा सकता है। इस दृष्टि से 'धनवान' और 'गरीब' ये भद भी कल्पनाए ही साबित होने लगती है।

इन तीन तरह के भेदो के अलावा भाषाभेद और धर्मभेद को लेकर पारस्परिक व्यवस्था का प्रश्न उपस्थित किया जाता है और उसे राजनैतिक रूप दिया जाता है। लेकिन थोडे विचार के बाद ज्ञात होगा कि ये भेद भी मूलभूत नही है।

[३] तो फिर मानव-समूह की व्यवस्था का विचार मूलभूत और स्वाभाविक रूप से कैसे किया जाय ?

राजनैतिक प्रश्न की स्वाभाविक व्याख्या

कुछ व्यक्ति स्वभावत याने निसर्गत ही अधिक बुद्धिमान या अधिक शक्तिशाली होते है। अर्थात् कुछ कम बुद्धिवाले या अल्प शक्तिवाले होते है। बुद्धि और शक्ति दोनो का समावेश 'सामर्थ्य' शब्द मे हो सकता है। जिन्हे हम सम्पत्ति, साधन-सामग्री, दर्जा (रुतबा) आदि कहते है, वे सारी बाते सामर्थ्य मे से ही उत्पन्न होती है। इसलिए मनुष्यो मे, कुछ समर्थ और बहुतेरे अ-समर्थ, इस तरह के दो वर्गो की कल्पना की जा सकती है।

लेकिन उनके वर्ग-रूप मे सिद्ध होने के लिए उनमे सगठन की कल्पना करनी होगी। याने यदि सारे समर्थ व्यक्ति सगठित होकर एक हो जाय तो समर्थो का वर्ग सिद्ध होगा, अन्यथा वह एक कल्पना-मात्र ही रहेगा। असमर्थ एक हो जाय, तो उनका वर्ग बनेगा। लेकिन बनते ही वह आत्महत्या कर लेगा। अर्थात् वह असमर्थ नही रहेगा, बल्कि समर्थ बन जायगा, क्योकि सामर्थ्य जिस प्रकार शक्ति और बुद्धि से उत्पन्न होता है, उसी प्रकार सख्या से भी उत्पन्न होता है।

इसके विपरीत, अगर वह सगठित न हो तो वर्ग के रूप में वह एक कल्पना-मात्र ही रहेगा।

साराश यह कि समाज मे स्वाभाविक रूप से वर्ग जैसी कोई चीज ही नही है, कम या अधिक सामर्थ्यवान व्यक्ति है। 'ये कम या अधिक सामर्थ्यवान व्यक्ति मिलकर अपनी व्यवस्था कैसे करे?'——यह राजनैतिक प्रश्न का मूलभूत और स्वाभाविक अर्थ सिद्ध होता है। इसमे से अ-मूलभूत और काल्पनिक कई प्रश्नो की कल्पना या रचना की जा सकती है और फिर उनका समाधान भी करना होता है।

स्वाभाविक त्रिविध राज्यपद्धति

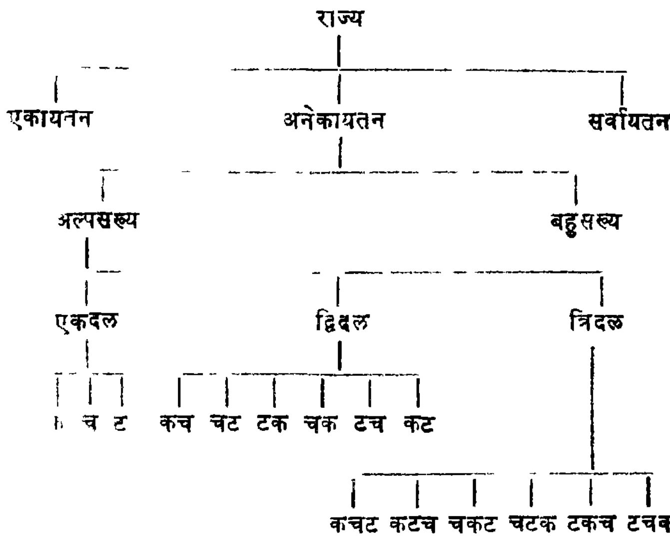
[४] इसलिए व्यवस्था-निर्माण के तीन स्वाभाविक प्रकार होगे–(**अ**) कोई प्राज्ञ या समर्थ व्यक्ति सब के लिए व्यवस्था करे। (**आ**) अनेक प्राज्ञ या समर्थ व्यक्ति एकत्र होकर सब के लिए व्यवस्था करे। (**इ**) सब मिलकर समान जिम्मेदारी से अपनी व्यवस्था कर ले। राज-व्यवस्था के इन तीन स्वाभाविक प्रकारो को हम 'एकायतन', 'अनेकायतन' और 'सर्वायतन' ये पारिभाषिक नाम दे।

त्रिविध राज्यपद्धति के सम्भवनीय प्रकार

[५] परन्तु नैसर्गिक भेद ये तीन ही बनते हो तो भी उनमे से कई स्वाभाविक और कृत्रिम अथवा काल्पनिक परतु अवश्य विचारणीय उपाधियो के आधार पर अवान्तर भेद भी उत्पन्न हो सकते है। एकायतन और सर्वायतन, ये दो प्रकार सर्वथा ऐकान्तिक, अतएव एकविध, है। लेकिन अनेकायतन पद्धति दूसरी अनेक पद्धतियो

को जन्म दे सकती हैं। उसके दो स्वाभाविक विभाग होते है अल्पसख्यायतन और बहुसख्यायतन। 'बहुसख्या' याने वह श्रमपरायण आम जनता, जिसे लक्ष्मी, शक्ति और सरस्वती का हिस्सा बहुत थोडा नसीब हुआ है। उसका स्वरूप आम तौर पर सब देशो मे और सब कालो में प्राय एक-ही-सा होता है। इसलिए बहुसख्यायतन राज्यपद्धति एकविध ही ठहरती हैं। बाकी बची अल्पसख्यायतन राज्य-पद्धति मे से शास्त्रिक सत्ता, शस्त्रिक सत्ता और धनिक सत्ता, ये तीन एकदल सत्ताए मूलत उत्पन्न होती है। इन तीनो में से दो-दो के मिश्रण से शास्त्र-शस्त्रिक, शस्त्र-धनिक, धनशास्त्रिक, ऐसी तीन द्विदल सत्ताए पैदा होती हैं। उनमे से फिर महत्त्व-तारतम्य के अनुसार शस्त्र-शास्त्रिक, धन-शस्त्रिक, और शास्त्र-धनिक, ऐसी और भी तीन द्विदल सत्ताए होती हैं। इस प्रकार कुल छ द्विदल शाखाए उत्पन्न होगी। उसी प्रकार तीन मूलभूत एकदल सत्ताओ मे से तीनो के समवाय और तारतम्य से शास्त्र-शस्त्र-धनिक आदि छ त्रिदल शाखाए निकलेगी। यहा यह विस्तार खतम होता है।

इस तरह कुल अठारह प्रकार होते है। उनका चित्र हम इस प्रकार खीचे —



खुलासा क = शास्त्रिक, च = शस्त्रिक, ट = धनिक

राज्य-पद्धति के अवान्तर भेद तत्त्वत: अभिन्न

[६] इन अठारह प्रकारो से अधिक राज्य-व्यवस्था के प्रकार तत्त्वत नही हो सकते। वार्णिक—यथा गोरो की कालो पर, सवर्ण हिन्दुओ की अवर्ण हिन्दुओ पर, वांशिक—यथा, ईसाइयो की यहूदियो पर, राष्ट्रिक—यथा इग्लैंड की हिन्दुस्तान पर, नागरिक—यथा, पुराने रोम शहर की तत्कालीन ससार पर, आदि दूसरी अनेक सत्ताए अलग-अलग नामो से भले ही

प्रकट हुई हो, लेकिन तत्त्वत उन सबका समावेश उपर्युक्त अठारह प्रकारो में कही-न-कही हो जायगा।

२

[७] राजसस्था की बौद्धिक छान-बीन करने के बाद कितने प्रकार उत्पन्न हो सकते है, इसका विचार अब तक किया।

सर्वायतन-पद्धति कहीं नहीं है, उसका स्वरूप

इससे यह स्पष्ट है कि आज दुनिया मे इन्ही मे से कोई-न-कोई प्रकार अलग-अलग नाम धारण करके प्रचलित होगे। यह बात बिलकुल स्थूल-बुद्धि व्यक्ति के भी ध्यान मे आ सकती है कि आज सर्वायतन राज्यपद्धति कही भी विद्यमान नही है। वह प्रयत्न गाधीजी कर रहे है और उसके साधन का शोध भी उन्होने किया है, जिसका प्रयोग वह भारत मे करना चाहते है।

प्रजातन्त्र का नाम धारण करने वाली और सर्वायतन होने का दिखावा करने वाली एक राज्यपद्धति है, जिसका स्वाग यूरोप और अमरीका मे बनाया जा रहा है, लेकिन हिसा पर आश्रित कोई भी पद्धति, वह जितने सिर उतने मत, गिनने का दम्भ भले ही करे, दरअसल सर्वायतन नही हो सकती।

इसके विपरीत, सब लोग मिलकर स्वेच्छा से और सोच-समझकर अपने मे से किसी एक को या अनेको को राग-द्वेष रहित, भूत-हित-तत्पर, बुद्धिमान और कुशल जानकर सारी सत्ता सौंप दें, तो वह सत्ता आकार मे एकायतन अथवा अनेकायतन भले ही प्रतीत हो, अगर उसका आधार अहिसा है तो उसे सर्वायतन ही मानना चाहिए।

हिन्दुस्तान के पुराने पचायती राज्य को इस तरह का कुछ अधकचरा परन्तु प्रामाणिक प्रयत्न कह सकते है, लेकिन पचायतो का सयोजन करानेवाली व्यवस्था के अभाव मे उस प्रयत्न को अशास्त्रीय और आज की परिस्थिति के लिए अपर्याप्त कहना पडता है।

इतना कहना काफी होगा कि इस समय सर्वायतन-पद्धति कही भी प्रचलित नही है और आइन्दा उसकी स्थापना करनी है।

एकायतन-पद्धति आज तक जारी रही है। उसका स्वरूप

[८] एकायतन-पद्धति शुरू से अब तक कई जगह जारी है। हमारी देशी रियासते उसके नजदीक के उदाहरण माने जा सकते है। इन रियासतो का मूल सस्थापक जितना निरकुश या अहम्प्रमाण होता था, उसकी अपेक्षा उसके बाद वश-परम्परा मे आनेवाले बने-बनाये राजा अकसर कही अधिक निरकुश और अहम्प्रमाण होते है। मूल सस्थापक को कमाई करनी होती है। इसलिए इच्छा हो न हो, उसे अनेको मे सहयोग करना पडता है। बाद मे आनेवाले इस तरह की कोई जिम्मेदारी महसूस नही करते। इसलिए वे अधिक गैरजिम्मेदार बन सकते है। कहा भी है कि सूर्य उतना नही तपता, जितनी कि बालू तपती है। ससार के दूसरे हिस्सो मे भी कई जगह एकायतन-पद्धति ज्यो-की-त्यो चालू है।

[९] अल्पसख्यायतन-पद्धति के कुछ प्रकार यूरोप मे और अन्यत्र विशेष प्रबल हो रहे है। नात्सीवाद, फासिस्टवाद,

साम्राज्यवाद, ये सब कम या अधिक मात्रा मे अल्प-सख्यायतन-पद्धति के ही रूप है।

अल्पसंख्यायतन पद्धति : विद्यमान प्रकार और स्वरूप

हिसा, यन्त्रवाद, एकत्रित पूजी, बडे पैमाने पर योजनाए उनके हथियार है। वे करेगे तो हिसा, लेकिन कहते रहेगे कि वह अहिसा के लिए ही है। बहुसख्या को प्रसन्न रखना जरूरी है, इसलिए हमेशा उसके हित का मन्त्र पढते रहेगे। आघात-प्रत्याघात की पराकाष्ठा उत्तरोत्तर बढती ही चली जायगी। 'ससार की आम जनता हमारी व्यवस्था के बिना कभी व्यवस्थित रह नही सकती'– इस कल्पना पर सारी इमारत खडी है। जबतक बहुसख्या इतनी अज्ञान अथवा दुर्बल रहेगी कि उसे इस कल्पना के अधीन रहना पडे, तबतक इन पद्धतियो का किसी-न-किसी रूप मे बना रहना अनिवार्य है।

[१०] इसके विपरीत, रूस ने मानो अन्धे आवेश से बहु-सख्यायतन-पद्धति का प्रयोग शुरू किया-सा प्रतीत होता है।

बहुसंख्यायतन-पद्धति रूसी प्रयोग

लेकिन हिसा कभी भी और कही भी बहु-जनसमाज का हथियार नही हो सकती। इसलिए रूस का प्रयोग वस्तुत शस्त्र-शास्त्र धनिक अल्पसख्यायतन-पद्धति का प्रयोग ठहरनेवाला है। स्टैलिन की वर्तमान नीति यह अनुमान प्रमाणित करने जा रही है। जो शस्त्र से कमाया हो, उसे शस्त्र से ही सम्हालना होगा। बडे परिमाणो मे शस्त्रास्त्रो की तैयारी के बिना सफलता प्राप्त नही हो सकती, यह आज साबित हो चुका है। इसलिए बहुसख्या को शस्त्रो मे

मलग्न करना होगा। बहुसख्या स्वभावत शस्त्र-धारण मे असमर्थ होती है। इसलिए उसे उस काम मे निपुण अल्पसख्या के ही अधीन होकर रहना पडेगा। इस सारी योजना म धन-सग्रह और रक्षण के लिए कूटनीतिज्ञता के शस्त्र की जरूरत अवश्य होगी। और इतना होने पर वह प्रयोग बहुसख्यायतन नही रह सकता। जबतक बहुसख्या को वह हितकर प्रतीत होता रहेगा तबतक भले ही चलता रहे बेचारा।

आज हमने उस प्रयोग को 'शस्त्र-शास्त्र-धनिक नाम दिया, परतु साख्यो के तीन गुणो की तरह जब शास्त्र, शस्त्र और धन की एकत्र आवश्यकता होती है तब इन तीनो में से कौन-सा, कब और कितना प्रबल होगा, इसका ठिकाना नही है। इसलिए थोडे मे और निश्चित शब्दो मे, कदाचित्, उसके विषय मे इतना ही कहा जा सकता है कि ईमानदारी से बहुसख्या के हित के लिए शुरू किया हुआ, लेकिन वस्तुत अल्पसख्यायतन-पद्धति का ही वह एक नये प्रकार का प्रयोग है।

'नये प्रकार से मतलब ऊपर गिनाये हुए प्रकारो के अलावा किसी नये प्रकार से नही है। 'गिनाये हुए प्रकारो मे से ही एक, लेकिन शायद पहले कभी न किया गया हुआ'—इतना ही 'नये' से मतलब है, क्योकि मनुष्य का इतिहास दस-पाच लाख वर्षो का होने के कारण निश्चित-रूप से नही कहा जा सकता कि ऐसा प्रयोग पहले कभी हुआ ही नही होगा। मनुष्य के विचारो का चक्र परिचित

रास्ते से भी अपरिचयपूर्वक नित्यनूतन घूमता ही रहता है। किसी माता के जब लडका होता है तो उसकी मानसिक प्रसूति इतने आनन्द और उत्साह से जारी रहती है कि मानो आज तक किसी भी माता के ऐसा बालक कभी हुआ ही न हो।

× × ×

ससार मे कितनी और किस तरह की राज्यपद्धतिया वर्तमान है और कौन-कौन-से विचार-प्रवाह मौजूद है, इसका यह सक्षिप्त विवरण है ।

प्रश्न दूसरा

प्रश्न—आपने यह सब सिद्धान्त के तौर पर बतलाया, लेकिन वर्तमान नात्सीवाद, फासिस्टवाद और समाजसत्तावाद का, जिस रूप मे वे आज पाये जाते है उसको निगाह मे रखते हुए, प्रत्यक्ष व्यावहारिक दृष्टि से स्पष्टीकरण होना जरूरी है। इन वादो मे से कौन-सा वाद श्रेष्ठ है ?

१

जनता जीवननिष्ठ वाद और पद्धतियाँ उनकी साधनीभूत

उत्तर—[११] हमने ऊपर विचार की दृष्टि से राज्य-व्यवस्था के मुख्य चार प्रकारो की, याने एकायतन, अल्पसख्यायतन, बहुसख्यायतन और सर्वायतन-पद्धतियो और उनके अन्तर्गत अल्पसख्यायतन-पद्धति के अवान्तर प्रकारो को मिलाकर अठारह प्रकारो की, लम्बी-चौडी सूची बनाई, लेकिन फिर भी इन सब प्रकारो मे समान अश है ही। उसे ध्यान मे लेने के बाद प्रचलित वादो के अथवा पद्धतियो के भेद अधिक स्पष्ट होगे। किसी राजा की बिलकुल व्यक्तिगत सत्ता मान ली जाय तो भी उसका राज्य अक्षरश अकेले उसीका नही होता। उसके एक सहायक वर्ग होता है और बहुसख्या का सहकार भी उसे थोडा-बहुत मिलता है। इसीलिए उसका

राज्य चलता है। इसके विपरीत, जिसे सर्वायतन-पद्धति कहा जाता है, उसमे सभी लोग प्रत्यक्षरूप से शासनसचालन करते हों ऐसी बात नही है। सबका सहकार मानकर ही प्रत्यक्ष शासन-कार्य थोडे लोगो के सिपुर्द किया होता है। और यहा भी प्राय किसी व्यक्ति को अन्तिम प्रमाण के रूप म मानना ही पडता है। जनता कभी भी वादनिष्ठ या पद्धतिनिष्ठ नही होती। वह तो जीवननिष्ठ होती है। जीवन सुचारुरूप से चलता रहे तो वाद या पद्धति कोई-सी भी क्यो न हो जनता को उसकी फिक्र नही होती। वाद तत्त्वज्ञानी निकालते है, पद्धति व्यवहारी लोग बनाते है और समाज सहकार करता है। तत्त्वज्ञानी और व्यवहारी क्रमश वादनिष्ठ और पद्धति-निष्ठ होते है। लेकिन वे भी आखिर अपने-अपने मत के अनुसार तो जीवननिष्ठ ही होते है और इसीलिए वादनिष्ठ या पद्धतिनिष्ठ होते है। तत्वज्ञानी सोचता है कि अमुक 'वाद के बिना जीवन अच्छा बन ही नही सकता और इसलिए याने अपनी जीवन-निष्ठा के कारण ही, वह वादनिष्ठ होता है। व्यावहारिक मनुष्य अपने अनुभव से यह ठहराता है कि अमुक पद्धति के बिना जीवन अच्छा बन ही नही सकता और इसलिए याने अपनी जीवन-निष्ठा के कारण ही वह पद्धतिनिष्ठ होता है। लेकिन आग्रह और मोह की बदौलत कभी-कभी जीवन-निष्ठा किनारे रह जाती है और केवल वाद-निष्ठा तथा पद्धति-निष्ठा लोगो के अर्थात् तत्त्वज्ञो, व्यावहारिक लोगो और दूसरो के भी मनो पर कुछ देर के लिए अधिकार जमा ले सकती है।

[१२] लेकिन किसी भी हालत मे सभी वादो, पद्धतियो और उन पद्धतियो के व्यवहार के नीचे लिखे अश समान समझन चाहिए

राज्यपद्धतियों का चतुर्विध निष्कर्ष

(अ) **जीवन-निष्ठा.** वास्तविक अथवा कम-से-कम, दिखाऊ अन्तिम या कम-से-कम, तात्कालिक, सार्वत्रिक अथवा कम-से-कम, स्थानीय।

(आ) **बहुसंख्या का और सबका सहकार** स्वेच्छा-पूर्वक (ज्ञानपूर्वक वा मूक) अथवा बल-पूर्वक (परिपूर्ण या पर्याप्त)।

(इ) **समर्थ व्यक्तियों के हाथ मे राज्य का प्रत्यक्ष संचालन.** चुन हुए अथवा नामजद, अथवा स्वत एकत्रित।

(ई) **अन्तिम प्रमाण एक व्यक्ति.** सबके द्वारा, अधिकाश के द्वारा या अल्पसख्यको के द्वारा (प्रत्यक्ष या परोक्ष-रूप से) निर्वाचित, अथवा स्वयभू।

[१३] इतना अश समान होने पर भी पद्धतियो का और वादो का यह झगडा किस लिए? शासन-पद्धतियो मे परिवर्तन और क्रांतियाँ क्यो कर? पद्धतियो की तुलना की गुजाइश क्यो? और किन बातो के आधार पर वह की जाय?

राज्य-पद्धतियों के विविध विशेषण

इन सब प्रश्नो का उत्तर एक ही है और वह समान अश का विवेचन करते हुए उसे जो विविध विशेषण लगाये गये है, उन्ही में अन्तर्हित है।

(अ) **जीवननिष्ठा** (१) अगर केवल स्थानीय हो तो अन्य-स्थानीय जीवन से उसका विरोध होता है और इस तरह की विरोधी जीवननिष्ठा टिक नही सकती, वह नई पद्धति को जन्म देकर स्वय नष्ट हो जाती है। (२) अगर वह तात्कालिक याने अदूरदर्शी हो तो उछाले फुटबॉल की तरह उसका वेग मद होता जायगा और उसे नवीन वेग की आवश्यकता रहेगी। (३) अगर वह भामिक याने केवल दिखाऊ हो तो जबतक आभास का जादू रहेगा तबतक वह टिकेगी।

(आ) **बहुजन-समाज का सहकार** (१) अगर वह जबर्दस्ती का हो तो बहुजन-समाज जबतक जाग्रत और समर्थ नही होता है तबतक राज्य जैसे-तैसे चल सकेगा। (२) जबर्दस्ती का होते हुए भी अगर थोडा-बहुत सुखद हो तो उतने अश मे वह अधिक समय तक रह सकेगा। (३) जबरदस्ती के शासन मे यदि कुशल शासक-वर्ग अशिक्षण या कुशिक्षण की ऐसी योजना कर सका कि जिससे लोक-जागृति होने न पावे तो वह और भी अधिक टिक सकेगा। (४) प्राथमिक सुख अगर न भी दिया जा सके फिर भी अगर गौण सुख का आभास उत्पन्न किया जा सके तो सभव है कि लोग उसके थोडे-बहुत आदी हो जाय। लेकिन इसम शक नही कि हर हालत मे इस पद्धति का अन्त कभी-न-कभी होना ही है। (५) सहयोग स्वेच्छापूर्वक दिया जाने पर भी अगर ज्ञानपूर्वक न दिया गया हो, केवल मूक हो तो वह जनता मे बुद्धिभेद होने तक ही टिकेगा।

(इ) **समर्थों का धुरीणत्व** शासन का सचालन हमेशा

समर्थ व्यक्ति ही करते रहेगे। लेकिन (१) अगर वे चुने हुए हो तो उनका टिकना उनकी सुराज्य-शक्ति पर निर्भर रहेगा। (२) अगर नियुक्त हो तो वे तभी तक कायम रहेगे, जबतक जनता समर्थ नही होती या उन व्यक्तियो के आपस मे फूट नही होती। (३) अगर वे स्वत इकट्ठे हुए हो तो उतने अश मे अधिक दिन टिकेगे। लेकिन जनता के आधार के अभाव मे समर्थ व्यक्तियो की एकता ज्यादा दिन नही ठरहती। समर्थ व्यक्तियो मे अक्सर अपने सामर्थ्य के कारण पारस्परिक ईर्ष्या हो जाती है।

(ई) **प्रमाणभूत व्यक्ति** · (१) अगर स्वयभू हो तो वह राज्यपद्धति तभी तक रहेगी, जब तक कि उस व्यक्ति का या उसके पराक्रम या प्रभाव का अन्त नही हो जाता। (२) अगर निर्वाचित हो तो निर्वाचन का अधिष्ठान जिस अश मे व्यापक, व्यवस्थित और खुला होगा, उतना ही कम या अधिक उसका स्थायित्व रहेगा।

महत्त्व का मुद्दा सार्वराष्ट्रीय अविरोध अथवा भ्रातृभाव

[१४] राजनैतिक पद्धतियो का विचार करते हुए उपर्युक्त बातो के अलावा दूसरी भी एक बहुत महत्त्व की बात पर ध्यान देना पताड है। वह यह कि राष्ट्र की अन्तर्गत व्यवस्था के साथ-साथ अन्य राष्ट्रो से उसका व्यवहार कहा तक अविरोधी है। पुराने जमाने मे, जब कि आवागमन के साधन इतने वेगवान नही थे, तब भी यह प्रश्न कम महत्त्व नही रखता था। आज तो सार्वराष्ट्रीय अविरोध ही नही, वरन् अनुकूलता

और भ्रातृभाव राष्ट्र या राष्ट्र-समूह के व्यवहार का मूल-तत्त्व माना जाना चाहिए।

राज्यपद्धति का आदर्श

[१५] इस सारी चर्चा के सार-रूप मे अब हम राज्य-पद्धति की कसौटी के कुछ तत्त्व यहाँ देते है —

(अ) सार्वराष्ट्रीय भ्रातृभाव,
(आ) राष्ट्र के सब लोगो का ज्ञानपूर्वक, यथाशक्ति परन्तु सहजस्फूर्त और हार्दिक, सहकार,
(इ) समर्थ अल्पसख्या और सर्वसामान्य बहुसख्या का हितैक्य,
(ई) सब के सर्वांगीण और समान विकास की दृष्टि,
(उ) राज्य-सत्ता का व्यापकतम विभाजन,
(ऊ) अल्पतम शासन,
(ए) सुलभतम तन्त्र (ऐ) न्यूनतम व्यय,
(ओ) कम-से-कम रखवाली और
(औ) सार्वत्रिक, अव्याहत एव तटस्थ अथवा मुक्त ज्ञानप्रचार

२

नात्सी, फासिस्ट और रूसी वादों का स्वरूप तीनों भ्रमपूर्ण

[१६] अब हम अपने मूल प्रश्न पर आ सकते है। नात्सी और फासिस्ट वादो मे इतना ही फर्क मालूम होता है कि नाजीवाद अधिक सगठित है और समाज के अधिक अश को स्पर्श करता है। इससे अधिक फर्क इन दोनो पद्धतियो मे नजर नही आता। वशाभिमान

दोनो म समान हे । दोनो ने इग्लैड को अपना गुरु बना कर उसमे राज्य-विस्तार-तृष्णा पाई है । दोनो का सैनिक शक्ति पर विश्वास है। पोर्तुगाल, स्पेन, हॉलैंड, इग्लैड, फ्रान्स आदि देशो ने जिस पद्धति से ससार को व्यापने का प्रयत्न किया, उसीका अनुसरण ये भी कर रहे है । दोनो पद्धतियो के विषय मे आज का उपलब्ध साहित्य पढने से उन के बारे मे जो राय कायम होगी, पन्द्रह दिन के बाद निकली हुई पुस्तके पढने पर उसे बदलने की नौबत आ जायगी ।

उसके विपरीत, रूस मे साम्यवाद या समाजवाद के नाम से एक प्रयोग शुरू हुआ है । उसकी मूल कल्पना विश्व-व्यापक की गई थी, लेकिन वह न टिक सकी और बाद को उसे राष्ट्रबद्ध स्वरूप प्राप्त हो गया है । सैनिक शक्ति मे उनका उतना ही विश्वास है, जितना कि औरो का । अगर आज तैयारी मे कुछ पिछडे हुए हो, तो अब आगे बढ जायगे । अपना मतलब साधने के लिए तत्वहीन दॉव-पेचो मे किसी को भी परहेज नही है । व्यापार दूसरो ने पहले ही हथिया लिया और देश मे जमीन भरपूर है, इसलिए रूस खेती की योजनाए अधिक बनाता है । लेकिन यह फर्क मूलभूत नही है परिस्थिति के कारण हुआ है ।

रूस की क्रान्ति बीस वर्ष की अल्प अवधि मे ही इतनी नीरस हो गई है कि उसका असली आकर्षक स्वरूप प्राय लोप हो गया है । कारण यह है कि केन्द्रीकरण, यन्त्रपूजा, शस्त्रनिष्ठा और शोषण—पूजीवाद की इन चार बातो मे-से तीन को कायम रखते हुए चौथी को टालने का प्रयास

साम्यवाद कर रहा है। अर्थात् यह एक मोहचक्र है। यह समझना मुश्किल नही होना चाहिए कि पहली तीन बातो के साथ चौथी, टालने पर भी, बरबस आ ही जाती है। लेकिन केन्द्रीकरण से प्राप्त क्षमता, यन्त्रपूजा की बदौलत मिला आराम और शस्त्रनिष्ठा मे मिलनेवाला रक्षा का आश्वासन---इन तीनो का लालच इतना जबरदस्त है कि शोषण बन्द करने के लिए उनमे से एक का भी त्याग करने की कल्पना मोहचक्र मे फसे हुए आरामतलब चित्त को नही जचती।

नात्सीवाद और फासिस्टवाद के लिहाज से रूसी 'वाद'—उसे जो भी नाम दिया जा सके---सद्हेतुमूलक प्रतीत होता है। लेकिन तीनो एक-ही-से भ्रान्त है और इसलिए सबका हित तो दूर, बहुसख्यको का हित भी साधने मे तीनो करीब एक-से असमर्थ ठहरे है।

इन वादों की थोड़ी और तुलना उनके मूढग्राह

(१७) जबतक कोई पद्धति निर्माण की अवस्था मे हो और प्रतिक्षण बदल रही हो तबतक उसके गुण-दोषो की तुलना या चर्चा भ्रम-जनक हो सकती है। उदाहरणार्थ, सार्वराष्ट्रीय भ्रातृभाव की कसौटी की दृष्टि से विचार किया जाय तो इटली या जर्मनी की वर्तमान विचारधारा मे वह बिलकुल नदारद है। इसके विपरीत, रूस के साम्यवादी तत्त्वज्ञान मे उसका स्थान होना चाहिए। लेकिन साम्यवाद का एक सिद्धान्त यह माना जाता है कि साम्यवाद की विचारधारा जबतक

सारे ससार मे नही फैलती, तबतक किसी भी एक देश मे वह स्थायी नही हो सकेगी। इसके अलावा, साम्यवाद के प्रचार-साधनो मे हिसा वर्जित नही मानी जाती। इसलिए केवल प्रचार के आनन्द के लिए, जब शक्य हो, रूस दूसरे किसी भी राष्ट्र पर आक्रमण कर सकता है, चाहे उस राष्ट्र ने रूस का कुछ भी न बिगाडा हो। जबतक इस तरह के आक्रमण का सुयोग नही मिलता, तबतक सार्वराष्ट्रीय भ्रातृभाव, कम-से-कम पुस्तको मे तो, रह सकेगा। बाद म तो वह वहा भी नही टिक सकेगा। भक्तो की यह धारणा है कि रामचन्द्रजी के बाण से जो जो मरे, उन सबको मुक्ति मिली। साम्यवाद के भोले भक्त भी कई बार यह कहते पाये जाते है कि रूस का आक्रमण जिस-जिस राष्ट्र पर होगा, वह उस राष्ट्र के कल्याण के लिए ही होगा। इस सारी विचारधारा का अगर खयाल किया जाय तो रूस राष्ट्रीय भ्रातृभाव की कसौटी पर अधिक खरा उतरेगा, यह कहना मुश्किल है।

इसी प्रकार, कसौटी की अन्तिम शर्त याने ज्ञानप्रचार की स्वतन्त्रता, न केवल युद्धकाल मे, वरन् और समय मे भी, रूस और जर्मनी मे एक-सी अनुपलब्ध है। रखवाली की शर्त के विषय मे भी वही बात है। सबका रक्षा-साधन हिसा ही होने के कारण जो रखवाली पर अधिक-से-अधिक खर्च करेगा, उसीको बुद्धिमान कहने की नौबत आगई है। रूस की विचार-प्रणाली मे ध्येयवाद की जो ताकत है, वह नात्सी और फासिस्ट विचार-प्रणाली मे नही

पाई जाती। लेकिन उसकी जगह स्वजाति और स्ववंश का अभिमान प्रेरणाप्रद होता हुआ दिखाई देता है।

रूस के ध्येयवाद मे बहुजनसमाज के हित की जो दृष्टि निहित है, वह वस्तुत सर्वोदय के प्रतिकूल नही है। बहुजन-समाज के हित मे ही वस्तुत दूसरे सब लोगो के हित सुरक्षित रह सकते है। इस हितैक्यदृष्टि के आधार पर रूस की वर्तमान क्रान्ति की अपेक्षा अधिक स्थायी क्रान्ति हो सकती थी। लेकिन वहा हितैक्यदृष्टि की अपेक्षा हितविरोध की दृष्टि ही अधिक प्रभावशाली तथा शीघ्र-फलदायी मानी गई और इसलिए उसीका अवलम्बन किया गया। फलत कार्य शीघ्र हुआ-सा जान पडा। लेकिन बाद मे उसीको सम्हालते-सम्हालते राष्टाभिमान की नीव पर खडा करना पडा।

जनता को समन्वययुक्त और विवेकशील दृष्टि की शिक्षा देने के बदले, बलवान प्रतीत होनेवाली आवेशपूर्ण दृष्टि सिखाने के मोह को जल्दी-पसन्द नेता रोक नही सकते। रूस का बहुजन-हितवाद और जर्मनी का राष्ट्रसगठनवाद इसके उदाहरण हो गये है। जर्मन नेताओ को यह मोह रहा कि वशाभिमान जाग्रत किये बिना शायद राष्ट्रसगठन शीघ्रता से नही होगा और रूस के नेताओ को यह कि वर्ग-विरोध की भूमिका सजाये बिना क्रान्ति द्रुतगति से नही होगी।

[१८] जोसेफ मैजिनी की दृष्टि मे इटली की परिस्थिति

पर दृष्टि डाली जाय तो एक बिलकुल अजीब-सा दृश्य दिखाई देता है। मैजिनी गिजो का भक्त तो है, लेकिन गिजो आत्मौपम्य के सिद्धात को स्वतन्त्रता की बुनियाद मानकर चलता था। मैजिनी को वह अपर्याप्त प्रतीत होता है। इसलिए वह ईश्वर के पितृत्व के आधार पर सार्वराष्ट्रीय स्वतन्त्रवाद का

मैजिनी के इटली की दुरवस्था जनता-रक्षा के नाम पर क्षत्रिय-वर्ग का नेतृत्व

प्रतिपादन करता है। लेकिन उसके जीतेजी इटली की निज की राज्यसत्ता खडी होती है। जनता तो पराई सत्ता के नष्ट होने के आनन्द ने गर्क है, परन्तु मैजिनी अपने ध्येय के कही-के-कही अदमपता हो जाने पर बिलख रहा है। अब उस राज्य-सत्ता को हटाकर क्षत्रिय-वर्ग की सत्ता एक व्यक्ति मे केन्द्रित हो गई।

जब-जब क्षत्रियवर्ग वर्ग के नाते अग्रसर होता है तब-तब वह जनता के हित के नाम पर ऐसा करता है। यह क्षात्र-वर्ग अपने को ईश्वर की रक्षक-शक्ति का वारिस मानता है। वशाभिमान तो उसमें होता ही है। इसलिए शीघ्रफल के लिए आवश्यक जोश-खरोश उसे सहज ही उपलब्ध होता है। यह क्षात्रवर्ग अगर अन्तस्थ कलह या बाह्य आक्रमण से परास्त हो जाय तो एक क्षण के लिए जनता उस पर तरस खाती है और फिर अपने नित्य व्यव-हार मे लग जाती है।

[१९] अब इन तीन वादो मे से श्रेष्ठ-कनिष्ठता किसकी और कैसे ठहराई जाय, यह प्रश्न ही है। जनता जब किसी

समाजवाद अधिक रोचक और संशोधन-क्षम

पुरानी व्यवस्था से तग आ जाती है तब वह पुरानी व्यवस्था को तोडकर उसकी जगह लेनेवाली चाहे जिस नई व्यवस्था को पसन्द कर लेती है। उसमे आनन्द का प्रधान विषय यही होता है कि पुरानी व्यवस्था जाती रही। पेशवा-शाही के बाद एलफिन्स्टन साहब की अमलदारी शुरू हुई और कानून से नियन्त्रित राज्यसत्ता जारी हुई। मालूम होता है, इसीकी खुशी उस जमाने के मराठो को थी। लेकिन पचास साल के भीतर ही यह खुशी गायब हो गई और असन्तोष की हवा चलने लगी। यह नही कहा जा सकता कि एलफिन्स्टन की अमलदारी मे मराठा जिस आनन्द मे मशगूल था वह आनन्द सर्वथा मिथ्या था। लेकिन आज उस तरह का आनन्द हमे पुसायेगा नही।

हिन्दुस्तान की आज की स्थिति मे इन वादो को यहा कुछ-न-कुछ स्थान मिल ही सकता है। गरीबी तो हमारी बेमिसाल है और हमारे परम्पराप्रिय समाज को जात्यभिमान भी रुचिकर प्रतीत हो सकता है। इसलिए साम्यवाद को—जो कि गरीबो से हमदर्दी रखता है—चाहनेवाला एक, और दूसरा जाति-अभिमान का सगठन करने की इच्छा रखने वाला, ये दोनो वर्ग इस समय भारतवर्ष मे पैदा हो गये है। लेकिन हिन्दुस्तान की स्थिति से तुलना न करते हुए केवल तटस्थ-वृत्ति से विचार किया जाय तो मानना पडेगा कि एक विचारक

को साम्यवाद जितना आकर्षक प्रतीत हो सकता है और थोडे से सशोधन से उसमे जिस तरह सुधार हो सकता है, उतना आकर्षक या सशोधन-क्षम नात्सी या फासिस्टवाद नही हो सकता।

प्रश्न तीसरा

प्रश्न—अगर प्रचलित पद्धतियो को सदोष करार दिया जाय तो निर्दोष पद्धतियो का स्वरूप कैसा होना चाहिए ?

उत्तर—[२०] किसी भी पद्धति-विशेष का आग्रह न रखते हुए, समय-समय पर पद्धति को बदलते रहना, यह सर्वोत्तम पद्धति समझनी चाहिए। पद्धति ऐसा कोई अबाधित तत्त्व नही है कि जिसके आधार पर जीवन का निर्माण किया जा सके। अक्सर किसी एक पद्धति मे तग आया हुआ मनुष्य दूसरी पद्धति की तलाश मे रहता है। लेकिन जिन विशेष गुणो या दोषो के कारण लाभ या हानि होती है, उनकी तरफ मनुष्य का ध्यान नही जाता। बाल-विवाह से जो समाज तग आ जाता है, वह प्रौढ-विवाह की तरफ मुडता है और जो प्रौढ-विवाह से सन्त्रस्त हो जाता है, वह बाल-विवाह पर आ सकता है। वास्तव मे तारक तत्त्व सयम है। विवाह की उम्र निर्धारित कर देनेभर से ही बेडा पार नही हो सकता। सबका कारबार सब चलावे, इसकी स्थूल पद्धति समाज के विकास की अवस्था पर निर्भर रहेगी। परन्तु इन सारी पद्धतियो मे कम-से-कम नीचे लिखी चार चीजे तो अनिवार्यरूप से रहेगी ही

निर्दोष पद्धतियों का चतुर्विध लक्षण

(१) समर्थो का सामर्थ्य जनसेवा के समर्पित हो।
(२) जनता पूरी तरह स्वावलम्बी और पारस्परिक सहयोग करनेवाली हो।
(३) नित्य के सहयोग और प्रासगिक असहयोग या प्रतिकार का अधिष्ठान अहिसा ही हो।
(४) सबके प्रामाणिक परिश्रम की कीमत (नैतिक और आर्थिक) समान हो।

अब उपर्युक्त बातो मे मे हरएक का थोडा विवेचन करे।

१

लोकमत समर्थ व्यक्तियो को जनता की सेवा मे लगानेवाला हो

[२१] 'समथ' से मतलब है स्वभावत अधिक बुद्धिशाली ओर अधिक शक्तिशाली व्यक्ति। यह भेद प्राणिशास्त्र का ही किया हुआ है और फिलहाल तो उसके निराकरण की कोई गुजाइश नही दीखती। लेकिन साथ ही आज सम्पत्ति आदि साधनो की बदौलत समर्थ वना हुआ भी एक गिरोह है। पहले दो गिराह स्वाभाविक है। यह तीसरा औपाधिक है। इन तीनो मे जो त्रिविध सामर्थ्य मौजूद है, वह उन्हे जनता की सवा क लिए ही निसर्ग और परिस्थिति द्वारा दिया गया है, इस बात का निरन्तर भान उनमें और जनता मे जाग्रत रहना चाहिए। यह सामर्थ्य जनता की सेवा के अवश्य अर्पण हो, इस तरह कालानुसार प्रबन्ध करनेवाली राज्यपद्धति होनी चाहिए। बुद्धि का उपयोग है लोक-जीवन को ज्ञानमय

बनाने के लिए, शक्ति का उपयोग लोकहितार्थ पराक्रम करने के लिए और सम्पत्ति का उपयोग है उचित रीति से समूचे समाज-शरीर में उत्पादन-शक्ति का प्रवाहशील और समानरूप से वितरण करने के लिए। समर्थ व्यक्ति अगर समाज को अपनी शक्तियो का इस तरह से उपयोग नही देंगे तो ऐसा लोकमत होना चाहिए कि राज्यप्रणाली के सिद्धातो के अनुसार वे अपराधी ठहराये जाय।

लोकमतानुसारी पद्धति में अनुशासन अन्तर्हित

[२२] लोकमत के होने पर, अगर जरूरत हो, तो उस सम्बन्ध मे कानून भी बनाया जा सकता है। कानून का याने अनुशासन का समावेश लोकमतानुसारी अहिसक राज्यप्रणाली मे होता है। केवल दड के भय से समाज सीधे रास्ते पर रहता है, यह विचार अनुभव से गलत साबित हो चुका है। लेकिन फिर भी वह लोकमान्य है। असल बात यह है कि समाज को सही रास्ते पर रखने के लिए लोकमत का डर या लोकमत की कद्र कह लीजिए—अधिक-से-अधिक उपयोगी हुई है और हो रही है। ऐसे कुछ थोडे-से महान् व्यक्ति, जिन्हे नैतिक मर्यादा के पालन के लिए लोकमत की जरूरत नही होती, समाज मे सर्वत्र और सर्वदा होते है। लोकमत की उपेक्षा करके अनीति की राह पर चलनेवाले कुछ भ्रान्त या अविवेकी व्यक्ति भी उसी प्रकार सब जगह होते है। परन्तु आम जनता या सर्वसाधारणवर्ग लोकमत के विधानो का पालन करने और लोकमत के निषेधो को टालनेवाला

होता है। यही सहज लोकमत कानून या अनुशासन का आधार होता है और उसका आदर सर्वसाधारण जनता हमेशा ही किया करती है। थोडे-से जो भ्रान्त व्यक्ति बाकी रह जाते है, उनका सम्बन्ध फौज वगैरा से जोडने के बदले थोडे-से जो महापुरुष होते है, उनके साथ कायम करना चाहिए। अर्थात् जिन्हे कानून की पर्वाह नही है, उन्हे उनके हवाले करके जिन्हे कानून की जरूरत नही है सर्वसाधारण समाज कानून के अनुसार चले।

कृपण भी चोर के समान अनुशासनीय

[२३] आज लोकमत को चोर मान्य नही है। वही हाल कदर्य या कृपण का भी होना चाहिए। याने आज जिस प्रकार चोर अनुशासनीय है, उसी प्रकार सूम भी कानून से अनुशासनीय होना चाहिए। अर्थात् लोकमत इसके अनुकूल होना चाहिए। सभ्य मा-बाप अपने बच्चो को बचपन मे ही यह शिक्षा देते है कि बिना मागे कोई चीज हथिया लेना भारी गुनाह है। उसी प्रकार जिसे जरूरत हो, उसे मागने पर न देना भी शिक्षणशास्त्र नैतिक दोष माने। यह विचार नया नही है, लेकिन एक सामान्य तत्त्व के रूप मे अबतक उसका अमल नही हुआ है। उपनिषद् का राजा अश्वपति अपने राज्य की महिमा का वर्णन करते हुए

न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यः।

(याने मेरे राज्य मे न तो चोर है, न कञ्जूस) एक ही वाक्य मे कहता है। अर्थात् वह दोनो को एक ही पगत मे बिठाता

है और यह सकेत करता है कि कृपण चोरो के जनक है तथा चोर उनके उत्तराधिकारी पुत्र। इस विचारधारा को कानून मे दाखिल कर देना जरा भी मुश्किल नही है।

[२४] सम्पत्तिमानो की सम्पत्ति छीन लेने की बात फिजूल ही कही जाती है। वस्तुत सम्पत्तिमान् सम्पत्ति केवल सञ्चय के लिए नही रखना चाहते। उन्हे तो प्रतिष्ठा, सुख, भावी जीवन का आश्वासन, सन्तान का पालन पोषण और दानशीलता की ख्याति, इन्ही मे से कुछ की, या इन सबकी, अभिलाषा होती है। अगर कोई ऐसी युक्ति हाथ लग जाय जिसके जरिये ये सब चीजे मिलने की सुविधा हो और ऊपर मे निश्चिन्त भी रहा जा सकता उस पर किसीको एतराज न होगा। आज भी सम्पत्तिमानो की सम्पत्ति कई सहकारियो, मुनीमो और उसी तरह के दूसरे लोगो मे बटी हुई होती है। इसके सिवा उनकी सम्पत्ति के विनियोग का कोई रास्ता ही नही है। मुनीमो के हाथो म सम्पत्ति सौपकर, मुनीम धोखा तो देते है, फिर भी ज्यादा धोखा नही देते, इस तरह की चिन्ता और सन्तोष मे उन्हे जीवन बिताना पडता है। इसके बदले राज्यपद्धति समर्थो को यह दर्शन करा दे कि यह पैसा समाज के कामो मे लग रहा है, चिन्ता की जगह उन्हे लोकोपयोगी चिन्तन का लाभ मिल रहा है और इसके अलावा तथा इसके परिवर्तन मे, प्रतिष्टादि सारी चीजे पहले से कम नही बल्कि बहुत अधिक मात्रा मे और वास्तविक रूप मे मिल रही है।

सम्पत्ति के प्रयोजन

उदाहरण पुराना और आज का अध्यापक-वर्ग

[२५] पुराने जमाने में विद्वान् अध्यापक निष्काञ्चन रहता था। इसके यह माने नही है कि उसका अन्तर्जीवन तो कहना ही क्या, लेकिन उसका बाह्यजीवन भी निरानन्द होता था। वह निष्काचन होता था, इसका इतना ही अर्थ है कि वह काचन की चिन्ता से मुक्त होता था। उसका शिष्यवर्ग उसकी आवश्यक सेवा कुछ कम नही करता था। कभी-कभी सम्राट् पर भी वह हुकूमत चलाता था। वह अपनी शिक्षा-प्रणाली पर किसीका अकुश नही स्वीकारता था। दीर्घ आयु का उपभोग करता था। इस तरह का अध्यापकवर्ग वास्तव मे कभी था या नही, यह विवाद का विषय हो सकता है, लेकिन अगर इस तरह का वर्ग मौजूद हो तो वह किसी कदर कम प्रतिष्ठित या कम सुखी अथवा कम वैभवशाली होगा, ऐसी बात नही है। आज का अध्यापक पुस्तको का अध्यापक होता है, न कि शिष्यो का। याने उसके जीवन मे शिष्यो को और शिष्यो के जीवन मे उसको स्थान नही होता। इस पारस्परिक प्रेम के बदले वह अधिक पैसे ले लेता है, जो बीमारी वगैरा के बहाने डाक्टर-हकीम आदि उससे ऐठ लेते है। फलत उसे कोई लाभ नही होता और वह आम जनता के लिए नाहक महगा साबित होकर उसकी सेवा से वचित रह जाता है। राज्य-पद्धति की याने लोकमत की रचना ही ऐसी होनी चाहिए कि हरएक व्यक्ति यह सहज ही महसूस करने लगे कि लोगो

का विरोध सहकर इस प्रकार सम्पत्ति का सचय करने मे हित नही है ।

[२६] लोगो मे यह कहावत रूढ है कि विद्या देने स दुगुनी होती है । इस विषय मे सम्पत्ति और विद्या के स्वभाव मे विरोध माना जाता है । लेकिन वह वास्तविक नही है । सपत्ति भी देने से दुगुनी हुआ करती है । अर्थशास्त्र मे इसी को जनता की क्रयशक्ति का बढना कहते हैं । साहूकार कर्जदार को भरपूर धन देता है, उसमें वह अपनी सम्पत्ति की वृद्धि देखता है । उससे भी अधिक वृद्धि सम्पत्ति के विभाजन से होती है, यह बात समझना बिलकुल मुश्किल नही है । परन्तु तदनुकूल समाज-रचना करनी होती है । इस तरह की समाज-रचना आदर्श राज्यपद्धति मे अन्तर्हित है । समाज व्यक्ति का बैंक है । व्यक्ति का पैसा किसी भी बैंक मे जितना सुरक्षित रह सकता है, उससे कही अधिक सुरक्षित समाज-रूपी बैंक मे रहेगा ।

सम्पत्ति देने से दुगुनी होती है

[२७] असमर्थो की सेवा करने मे ही समर्थो की शक्ति की शोभा है । मानवीय सन्तोष भी उसीमे है । चूकि मनुष्य समाजप्रिय है, उसे अकेले उपभोग करने मे, दूसरो को अपने भोग मे भागीदार बनाये बिना, कभी सन्तोष नही होता । फिर भी आज धनवान् अपने आस-पास अधभूखे लोगो को जानते और देखते हुए भी अपने काञ्जीहौस मे

देने में ही मानव का सन्तोष, लेकिन हक मालिकाना की कल्पना बाधा देती है

आनन्द का आभास अनुभव करते पाये जाते है सही । मनुष्य-स्वभाव के प्रतिकूल यह प्रवृत्ति कैसे जीवित रह सकती है, इसका जवाब यह नही है कि सिर्फ ये धनवान् लोग आदमियो से बाहर है । समाज मे जो यह अर्धसत्य और अर्धमिथ्या भावना रूढ है कि हर व्यक्ति अपनी कमाई का जिम्मेदार और हकदार है, उसी भावना का यह परिणाम है। सबको यथाशक्ति कमाई अवश्य करनी चाहिए। जो शक्ति होते हुए भी कमाई नही करता, वह हकदार नही हो सकता। लेकिन यह पूर्ण सत्य है कि यथाशक्ति कमाई करनेवाला कोई भी व्यक्ति सम्मिलित कमाई का समान हकदार है। अगर मनुष्यो की शक्तियो मे फर्क न होता तो उनकी कमाई की विषमता, उनकी सचाई की न्यूनाधिकता का द्योतक होती और उस हालत मे यह कहना यथार्थ होता कि हरएक अपनी कमाई का समानरूप से जिम्मेदार और हकदार है । लेकिन जबकि शक्ति-वैषम्य प्रत्यक्ष है, व्यक्तिगत जिम्मेदारी के तत्त्व का हिसाब त्रैराशिक की रीति से लगाना गलत गणित करना है।

[२८] परिवार मे जो आर्थिक व्यवस्था थोडे-बहुत अश मे सर्वत्र पाई जाती है, उसे सारे समाज पर लागू करने के लिए ही—जो कुटुम्ब की शक्ति से परे है—राज्यव्यवस्था है । अगर राज्य-व्यवस्था यह कार्य न करे तो उसकी दरअसल जरूरत नही रह जाती। इस कार्य को करने की बजाय राज्य-व्यवस्था अगर वैषम्य का ही निर्माण करती हो तो उसे नष्ट करके अराजकता मजूर

कुटुम्बगत आर्थिक व्यवस्था समाज पर लागू करना राज्य-व्यवस्था का कार्य अन्धपंगुन्याय से

करना हमारा धर्म होगा। अपनी चाहे जैसी कुराज्य-व्यवस्था को भी लोगो के गले उतारने के लिए राज्य-व्यवस्थापको ने अराजकता का बहुत बडा हौवा चारो तरफ फैला रक्खा है।

समर्थों को हम समर्थ मानते है, लेकिन असमर्थ मानी गई जनता की सहायता के बिना उनका काम किसी हालत मे नही चल सकता। इस अर्थ मे वे असमर्थ ही साबित होते है। इसके विपरीत, जिन्हे हम असमर्थ कहते है, उनमे भी उनका अपना विशेष सामर्थ्य होता ही है। उसके बिना राज्य-सत्ता भी निभ नही सकती। भावार्थ यह कि दोनो एक-दूसरे की मदद के बिना असमर्थ और एक-दूसरे की मदद से समर्थ सिद्ध होते है। साख्य-शास्त्रकार जिसे अन्ध-पगु-न्याय कहते है, उस तरह का यह मामला है। जिस राज्य-व्यवस्था मे समर्थो को इतना समझ सकने की भी अक्ल हासिल न हो कि इन दोनो के मिलन मे पारस्परिक हित है, वह राज्य-व्यवस्था दरअसल राज्य-व्यवस्था ही नही है, बल्कि अराजकता से भी बढकर अराजकता है। थोडे मे भावार्थ यह है कि राज्य-व्यवस्था का अधिकार समर्थो के सुपुर्द तो करना चाहिए लेकिन वह केवल जनता की सेवा का ही हो।

[२९] इसके विपरीत, इसकी सिद्धि के लिए, याने समर्थो के हाथ मे सेवा के अतिरिक्त अन्य सत्ता न जाने देने के लिए, यह अनिवार्य है कि जनता निरी असहाय और दुर्बल न रहे। इस-**गांव स्वयम्पूर्ण होने** लिए वह इतनी स्वावलम्बी होनी चाहिए **चाहिए, उसके लिए** कि उसे अपने बल का, याने अपने स्वतन्त्र **ग्रामोद्योग ही समर्थ** बल का, भान रहे। अर्थात् उसके हाथ

मे स्वायत्त उद्योग होने चाहिए। बहुजनसमाज मिलो के मजदूरो की तरह महज परायत्त उद्योगो में सलग्न हरगिज नही रहना चाहिए। हरएक गाव आर्थिक दृष्टि से बहुत अश मे एक स्वय-पूर्ण इकाई बन जाना चाहिए। ऐसी स्थिति होनी चाहिए कि समर्थ अपनी इच्छा से जनता के साथ सहयोग करे और जनता स्वतन्त्रतापूर्वक समर्थों को सहयोग दे। यह तभी हो सकता है जब कि जनता अपने पैरो पर खडी हो। और कोई मार्ग नही। हम जिन्हे जीवन की प्राथमिक आवश्यकताए कहते है, वे सब और जिन्हे हम गौण आवश्यकताए कहते है, उनमे से भी बहुतेरी जिस गॉव के लोगो की उसी गॉव मे पूरी होनी चाहिए। इसके सिवा जो गौण और गौणतर आवश्यकताए बाकी रह जाती है, उनकी पूर्त्ति राज्य-सत्ता को समर्थों द्वारा करानी चाहिए।

किसान के खेत की पैदावार से जो पक्का माल बन सके, वह जहॉ तक हो सके, उसीके घर मे और शेष गॉव मे बनना चाहिए। यह कह सकते है कि हिन्दुस्तान का किसान आज खेत मे कच्चा माल पैदा करने के अलावा और कुछ नही करता। वह तिल बेच देगा और अपनी जरूरत के लिए तेल भी मोल लेगा—तेल के बारे में दूसरो की मॉग पूरी करना तो किनारे रहा। कपास बोयेगा और अपने लिए सिर्फ कपडा ही नही, बल्कि बोने के लिए और गाय-बैलो की खिलाई के लिए बिनौले भी मोल लेगा। अपनी हरएक आवश्यकता पूरी करने के लिए उसे गल्ला बेचना होगा। इस बिक्री के सौदे मे उसे घाटा होगा। गल्ले के बदले जो पैसा मिलेगा, उससे वह जरूरी चीजे खरीदेगा। यह खरीद का सौदा भी घाटे का ही होगा। जनता

की इतनी पराधीन अवस्था न केवल जनता के ही लिए, वरन् किसी भी राज्यव्यवस्था के लिए और समर्थ माने गये अल्पसख्य लोगो के लिए भी, हितकर नही है। इसलिए आदर्श समाज-व्यवस्था का यह सहज-स्वरूप होगा कि खेती के पूरक ग्रामोद्योगो का जाल सारे राष्ट्र मे फैला हो और उनके सरक्षण तथा स्थैर्य का प्रबन्ध राज्यव्यवस्था करे। सम्पत्ति का विभाजन वृष्टि की तरह बूद-बूद घर-घर मे करने के लिए, बहुजन-समाज या जनता को स्वावलम्बी बनाने के लिए, न केवल समर्थो से सेवा लेने के लिए ही, अपितु स्वशक्ति से समर्थों की सेवा करने के लिए भी और जनता के परस्पर सहयोग को दृढ करने के लिए भी ग्रामोद्योगो के समान दूसरी कोई सहज, सुलभ और समर्थ योजना नही है।

साम्यवादियों की योजना खतरे की

[३०] पहले सम्पत्ति एक जगह इकट्ठा करना और बाद मे उसे बराबर बॉट देना, इस तरह की दूसरी एक योजना साम्यवादी पेश करते है। लेकिन इसमे तिहरा खतरा है। एक तो यह कि उत्पत्ति के द्वारा सहज ही सम्पत्ति का समान बटवारा करने की इकहरी योजना की अपेक्षा पहले सम्पत्ति एक जगह इकट्ठा करके फिर उसका समान विभाजन करने की दोहरी प्रक्रिया आर्थिक दृष्टि से ज्यादा महगी पडेगी। यह एक खतरा। इस एकत्र सम्पत्ति की रक्षा के लिए अलग तजवीज करनी होगी और तिस पर भी वह विदेशी आक्रमण का शिकार आसानी से हो सकेगी। यह दूसरा खतरा। इसके अलावा, उसकी बदौलत समाजरचना

इतनी व्यामिश्र अथवा जटिल अथवा अन्योन्यावलम्बी हो जायगी कि सारा-का-सारा यन्त्र किसी दिन अतिघर्षण के कारण एकदम बैठ जायगा, इसका कोई ठिकाना नही रहेगा। यह तीसरा खतरा ।

अन्योन्यावलम्बन सरल चाहिए, व्यामिश्र नहीं

[३१] अन्योन्यावलम्बन है तो बहुत अच्छी चीज, लेकिन वह स्वसमर्थ अथवा स्वावलम्बी गिरोहो के बीच होना चाहिए। परावलम्बी गिरोहो का अन्योन्यावलम्बन उमी ढग का होता है, जैसा कि गाडी मे जोते हुए दो दुर्बल बैलो का अपना-अपना बोझ एक-दूसरे पर ढकेलकर गाडी खीचने की कोशिश करना। तिपाई तीन पैरो पर खडी होती है। इन तीनो पैरो मे पारस्परिक सहयोग होता हे । लेकिन तीनो पैर अपने-अपने बल खडे होते है। यह मीधी-सादी यत्र-रचना है । कोई एक पैर टूट जाय तो सिर्फ उसी एक को दुरुस्त करना पडेगा । लेकिन जब एक पहिये के भीतर दूसरा और दूसरे के भीतर तीसरा, इस तरह पहियो के सिलसिले का कोई यन्त्र बनता हे तब वह व्यामिश्र कहलाता है। उसमे एक पहिया टूटते ही वह दूसरे को धक्का लगाकर सारे यन्त्र को ही रोक देगा और उसकी मरम्मत सादे यन्त्र की अपेक्षा बहुत ही मुश्किल होगी । इसके अलावा, यन्त्र चालू रहते समय भी व्यामिश्र यन्त्र मे घर्षण-स्थान कई होगे और स्नेहन-कार्य भी बहुत लम्बा होगा ।

[३२] सम्पत्ति इकट्ठा करके बॉटने की सारी योजनाए राज्यव्यवस्था पर बहुत दबाव डालती है और आखिर को वे

स्वयंपूर्ण राज्यसंस्था और मानव्य की विशाल कल्पना

हिसाश्रित हो जाती है। इसलिए, याने अगर हम हिसा का आश्रय, राज्यसत्ता पर पडनेवाला तनाव और समाज-रचना की क्लिष्टता टालना चाहे तो हरएक देहाती किसान को अपना बादशाह होना चाहिए और ग्रामीणो का सहयोग बटी हुई रस्सी की नाईं पक्का होना चाहिए। तब वह किसान और उसका गाव मिलाकर एक सहज और करीब-करीब स्वयम्पूर्ण राज्यसस्था हो जायगी।

जो इस प्रकार स्वायत्त ग्रामो का सगठन करती है, वह है निमित्तमात्र प्रान्तीय सत्ता। ऐसे प्रान्तो का जो सगठन करती है, वह है निमित्तमात्र राष्ट्रीय सत्ता। ऐसे स्वायत्त राष्ट्रो के परस्पर सहकार्य का जो सगठन करती है, वह है निमित्तमात्र अखिल मानव-सत्ता। इस अखिल मानव-सत्ता मे—जिसे हमने निमित्तमात्र कहा है—ससार के रागद्वेष-रहित प्राज्ञ और प्रातिनिधिक व्यक्तियो की परिषद् होगी। इस परिषद् के पास दड-शक्ति शून्य और नैतिक नियमन-शक्ति पूरी-पूरी होगी। मानवो को मानव्य की ऐसी विशाल कल्पना रचनी है। राजनीतिज्ञो की यह ठीक राय है कि केन्द्रीय सत्ता अगर प्रचड शक्तिशाली न हो तो काम नही चलेगा, लेकिन प्रचण्ड शक्ति का भडार निर्विकार प्रज्ञा और नीतिमत्ता है, न कि चेतनहीन शस्त्रास्त्र या जरजवाहिरात। स्पष्ट है कि जब-तक जनता स्वावलम्बी और सहकारी नही होगी, तबतक इस तरह की मानव्य-रचना नही बन सकती।

३

[३३] राज्यव्यवस्था कितनी भी बढिया क्यो न हो, प्रत्यक्ष व्यवहार मे उसकी उत्तमता किसी-न-किसी अश से उन व्यक्तियो की योग्यता और सज्जनता या असज्जनता पर आधार रखती ही है, जिन्हे समाज की तरफ से शासनतत्र के सूत्र सौपे गये हो। साधारणत अच्छे आदमी ही अचूक चुने जाय, ऐसी योजना करना उत्तम राज्यपद्धति का एक अग और लक्षण है। लेकिन उसके बावजूद भी व्यक्तित्व का थोडा-बहुत भला या बुरा परिणाम राज्य-व्यवस्था पर अवश्य होगा। राज्य-व्यवस्थाशास्त्र, या थोडे मे राज्यशास्त्र, शुद्ध गणितशास्त्र का तो कहना ही क्या, व्यावहारिक गणितशास्त्र के समान भी नियमित शास्त्र नही है। शुद्ध गणितशास्त्र विचारसृष्टि मे विचरण करता है, व्यावहारिक गणितशास्त्र भौतिकसृष्टि मे। लेकिन राज्यशास्त्र का विस्तार उस मानवसृष्टि मे है, जो विचारसृष्टि और भौतिकसृष्टि दोनो से जुदा है। इसलिए उसे मानवनिरपेक्ष केवल यान्त्रिक रूप देना सम्भव नही है।

राज्यव्यवस्था हमेशा मानवसापेक्ष ही रहेगी

[३४] सब मनुष्यो के समग्र, सर्वागीण और अविरुद्ध हित की रक्षा करना राज्यशास्त्र की प्रतिज्ञा है। उसके लिए— (१) व्यापकतम मतदान, (२) बहुमत के अनुसार शासन, (३) अल्पमत का अधिक-से-अधिक सन्तोष और पूर्ण सरक्षण

इसलिए सत्याग्रह का संरक्षण जरूरी

(४) मत-प्रचार की स्वतन्त्रता, (५) निष्पक्ष, सस्ता और सुलभ न्यायदान, (६) सार्वजनिक शिक्षण का प्रबन्ध, (७) सुधारक दण्डनीति—आदि सुराज्यव्यवस्था के जो बाह्य अग माने गये है, उपयुक्त है। लेकिन राज्यशास्त्र की मानव-सापेक्षता के कारण अनेक दोषो, वादो और टण्टो का निर्माण होना सम्भव है। इनके इलाज के रूप मे जनता को सहकार, असहकार और प्रतिकार के अवसरो का ज्ञान होना चाहिए। यथाअवसर इन तीनो का प्रयोग करने की शक्ति जनता में होनी चाहिए और इस सम्बन्ध की अहिसक पद्धति जनता मे रमी हुई होनी चाहिए।

वास्तविक सहकार और असहकार की पात्रता

[३५] सहकार जीवन का नित्य तत्त्व है। लेकिन जब वह स्वेच्छापूर्वक और ज्ञानपूर्वक किया हो, तभी उपयोगी, तभी अहिसक, बल्कि, तभी वह यथार्थ सहकार हो सकता है। अन्यथा, लाचारी से और अज्ञानवश किया सहकार उत्तम राज्य-व्यवस्था के लिए उपयोगी नही है। उसकी शक्ल देखने मे सहकार के जैसी भले ही लगती हो, लेकिन उसमे मिथ्यात्व होने के कारण वह ज्यादा दिन टिक नही सकेगा तथा पहले तो गुप्त हिसा मे और बाद में प्रकट हिसा मे अवश्य परिणत हो जायगा। इसलिए जनता के प्रत्येक व्यक्ति को यह प्रतीति होनी चाहिए कि कानून हम ही ने बहुमत से बनाया है, हम उसे बदल भी सकते है, जब-तक हम उसे बदलते नही है, तबतक, चाहे वह हमे व्यक्तिश पसन्द न हो तो भी, यदि वह नीति-नियमो के खिलाफ न हो

तो, हम स्वेच्छा से, आनन्दपूर्वक और खुले दिल से उसका पालन करते रहेंगे। जिनका मतविरोध नही है, उनके सहकार का कोई सवाल ही नही। लेकिन जिनका मतविरोध है, उनकी वृत्ति सहकार करते वक्त अगर ऊपर लिखे मुताबिक हो तो वह सहकार अहिसक कहलायगा। जो व्यक्ति इस तरह का सहकार नित्य करता है, उसीको यथाप्रसग आवश्यक असहकार और प्रतिकार करने का अधिकार होता है। ऐसे ही व्यक्ति अहिसक प्रतिकार करने का सामर्थ्य रखते है और उन्हीका वह कर्त्तव्य भी होता है।

जनता को असहकार और प्रतिकार की तालीम देना जरूरी

[३६] जिस प्रकार जनता के शिक्षण या विचारजागृति का एक पहलू यह है कि जहाँ तक मुमकिन हो, लोग सहकार ही करे और उसे स्वेच्छा से तथा समझ-बूझकर करे, उसी प्रकार जनता के शिक्षण अथवा विचार-जागृति का दूसरा पहलू यह है कि वह असहकार और प्रतिकार के प्रसग को पहचाने और वैसे प्रसग आने पर सविनय असहकार और प्रतिकार करे।

असहकार और प्रतिकार एक ही वस्तु की दो अवस्थाए है। पहली की अपेक्षा दूसरी अधिक उग्र है। जहाँ असहकार से ही काम चल सके, वहाँ प्रतिकार करना नही होता। असहकार मे हम अपना सहकार का हाथ हटा लेते है और प्रतिपक्षी को परिस्थिति मे सुधार करने का मौका देते है। इतने से जब काम होता नही जान पडता तब राज्य का कानून (१) विनयपूर्वक याने विशिष्ट मर्यादा मे रहकर, (२) व्यवस्थित-

रूप से याने कही भी अनुशासनभग न होने देते हुए, (३) प्रकटरूप से याने कुछ भी गुप्त न रखते हुए तथा छल-प्रपच के बिना और (४) दृढता से याने वादविषयक प्रश्न के बारे मे कम-से-कम माग पेश करके और जबतक वह पूरी न हो तबतक हार न मानते हुए, भग करना होता है। इस तरह के कानूनभग के लिए जो सजा हो, उसे खुशी से और बगैर द्वेषभाव के भुगत लेना होता है। इस तरह की शिक्षा जनता के जीवन मे रमी हुई होनी चाहिए और इसके लिए शिक्षण तथा राष्ट्रीय नीतिशास्त्र मे उसका नित्य स्थान होना चाहिए।

समाज-जीवन मे असहकार का स्थान नित्य

(३७) सुराज्यव्यवस्था मे असहकार और प्रतिकार प्रासगिक और नैमित्तिक होते हुए भी समाज-जीवन मे उनका नित्य स्थान है। क्योकि उनकी जरूरत केवल राजनैतिक क्षेत्र मे ही नही होती, अपितु समाजकारण, कुटुम्बकारण और व्यक्तियो के पारस्परिक व्यवहार मे भी उनके प्रयोग की थोडी-बहुत आवश्यकता हमेशा रहेगी। प्रतिकार न करते हुए, निष्क्रिय होकर अन्याय सह लेना, या फिर सक्रियता के आवेश मे होश-हवास भुलाकर—या सम्भालकर भी—हिसात्मक प्रतिकार करना, ये दोनो मार्ग टालकर सविनय असहकार और प्रतिकार का बीचवाला यही एक राजमार्ग है। राज्यव्यवस्था कैसी भी क्यो न हो, जरूरत होने पर, इस मार्ग का अवलम्बन करने की वृत्ति और शक्ति समाज के नीतिशास्त्र मे जाग्रत होनी चाहिए।

३८ सके लिए मोटे-मोटे नियमो के अपवाद भी

बचपन से बालको को सिखाये जाने चाहिए । माँ-बाप की

असहकार की तालीम की दिशा

यमनियम-विवेक

आज्ञा नम्रतापूर्वक माननी चाहिए, इस शिक्षा के साथ मा-बापो को ही अपने बाल्को को यह भी शिक्षा देनी चाहिए कि अगर वह आज्ञा विवेक-बुद्धि को जचने के लायक न हो तो उसे सविनय भग करे । यह एक उदाहरण दिया । दूसरे भी स्थूल नियमो के विषय मे लोकमत इसी तरह का होना चाहिए ।

"यमान् सेवेत सतत न नित्य नियमान् बुध "

(समझदार आदमी यमो का यानी सत्य-अहिसादि शाश्वत धर्मो का नित्य पालन करे । नियमो के नित्य पालन की अपेक्षा नही की जाती ।) मनु के इस वचन का यही अर्थ है । नियम, चाहे वे कौटुम्बिक, सामाजिक अथवा राष्ट्रीय, किसी प्रकार के क्यो न हो, जबतक वे सिद्धान्तो के प्रतिकूल नही होते तबतक उनका पालन अवश्य करना चाहिए । जहा उनका सिद्धातो से विरोध उपस्थित हो, वहाँ उनका सविनय त्याग करना चाहिए ।

सुव्यवस्था मे नियम साधारणत नित्य सिद्धान्तो के अविरोधी स्वरूप मे ही होते है । लेकिन गतिमान् यन्त्र का स्वरूप ही ऐसा है कि उसमे थोडा-बहुत घर्षण पैदा होने की सम्भावना सदा रहती है । एक बार आदर्श राज्यव्यवस्था कायम कर दी, अब वह व्यवस्था ही जनता को सभाल लेगी और सुख पहुचाती रहेगी, जनता खुशी से नीद लेती रहे, या आख मीचकर चलती रहे—ऐसी बात हो नही

सकती। और थोडी देर के लिए ऐसी सम्भावना मान भी ली जाय तो उसमे मनुष्य का विकास नही होगा। और इसीलिए ईश्वर-कृपा से ऐसी बात सध नही सकेगी।

साराश, सहकार, असहकार और प्रतिकार की मर्यादाए निगाह मे रखकर उनका अहिसापूर्वक यथाप्रसग प्रयोग कर सकने लायक जनता का जाग्रत होना या रक्खा जाना, उत्तम राज्य-व्यवस्था का अग ही समझना चाहिए।

अहिसा इतिहाससिद्ध हिन्दुस्तान का उदाहरण

[३९] हिन्दुस्तान जैसे अनेक जमातो के, अनेक धर्मो के, अनेक भाषाओ के, विशाल जनसख्या और विशाल क्षेत्रफल के किसी देश को सामने रखकर उसकी दृष्टि से किसी प्रश्न का समाधान करना मानो लगभग सारी दुनिया का सवाल हल करने के समान ही है। ऐसा मानना चाहिए कि जिस समय आवागमन के वर्तमान साधनो का आविष्कार नही हुआ था, उस समय जिन्होने इतने बडे देश को एक देश माना, उन्होने उसके पहले अनेक तरह के टण्टो का अनुभव करके और उसमे से सगठन के प्रधान सिद्धान्त का पाठ सीखकर ही, इसे एक देश माना होगा। इतना बडा राष्ट्र अहिसा के बिना एकत्र टिक नही सकता, यह रहस्य उनपर प्रकट हुआ और उसे दृष्टि मे रखकर ही हिन्दुस्तान के नीतिशास्त्र मे उन्होने अहिसा को राजनैतिक, सामाजिक, कौटुम्बिक, आर्थिक और शैक्षणिक क्षेत्र मे तत्त्वत सर्वोच्च स्थान दिया।

इसीके फलस्वरूप हिन्दुस्तान की आम जनता ने

शस्त्रास्त्र मे विश्वास कभी का छोड दिया था। यहा के निवासियो की यह धारणा बन गई थी कि हिन्दुस्तान एक राष्ट्र है, और जैसा कि रवीन्द्रनाथ ने कहा है, वह 'मानवो का महासागर' है और उसी तरह उसे सबके लिए खुला रखना है। लेकिन, अहिसा की इतनी सारी नीति दृष्टि के सामने होते हुए भी, मानना पडेगा कि जहा राजनैतिक क्षेत्र मे अहिंसा का व्यापक प्रयोग किया गया हो, ऐसे उदाहरण इने-गिने ही है। हिन्दुस्तान मे रहनेवाली जमातो के इतिहास से ज्ञात होगा कि सामाजिक, कौटुम्बिक और वैयक्तिक क्षेत्र मे हिन्दुस्तान ने यह प्रयोग बहुत बडे अश मे किया है। जान पडता है कि सामाजिक अहिसा के इस प्रयोग के कारण उसने उन सब जातियो को, जो बाहर से हिन्दुस्तान मे आई, आत्मसात् कर लिया।

जन, सज्जन और महाजन तीनों का मिलाप अहिसा में ही

[४०] लेकिन राजनैतिक क्षेत्र मे यह प्रयोग क्यो नही हुआ? खोजने पर इसका कारण मुख्यत यही मालूम होता है कि हिन्दुस्तान मे स्वय राजनैतिक क्षेत्र का ही स्थान महत्त्वपूर्ण नही था। आज तो जीवन के हरएक अग प्रत्यग को राज्य-व्यवस्था स्पर्श करती है। इसलिए सज्जन, महाजन और जनता–याने कोई भी–उसके प्रति उदासीन नही रह सकता।

जनता अगर स्वशक्ति से ऐसा व्यापक राजकारण उठावे तो वह अहिसा के प्रयोग के बिना सम्भव नही है, क्योकि हिसा जनता की शक्ति नही है। यदि सज्जनो को ऐसे व्यापक

राजकारण मे शामिल होना हो तो उन्हे अहिसा के बिना चारा ही नही, क्योकि हिंसा सज्जनो की वृत्ति नही है। और महाजनो को ऐसे व्यापक राजकारण मे शामिल होना हो (और ऐसा आभास होता है कि महाजनो के लिए यह बात नई नही है। लेकिन वास्तव मे नई ही है, क्योकि जिस राजकारण मे वे आज तक शरीक होते थे, वह जीवनव्यापी कभी था ही नही।) तो उनके लिए अहिसा के आश्रय के सिवा छुटकारा नही है, क्योकि हिसा की शक्ति और वृत्ति उनके लिए सुसाध्य भले ही हो, लेकिन जीवनव्यापी राजकारण मे हिसा की गुजाइश नही हो सकती। इसलिए जन, सज्जन और महाजन इन तीनो को सहत करनेवाली राजनीति के लिए अहिसा ही एकमात्र सहारा है।

वही दुर्जनों के लिए हमेशा का दबदबा

[४१] इस सरक्षक हथियार के बरतने का ज्ञान सज्जनो को स्वभावत होना चाहिए और उन्हे वह ज्ञान जनता को करा देना चाहिए। इस विषय मे राज्य-व्यवस्था उन्हे स्वतत्रता दे। अगर राज्यव्यवस्था मे वह आजादी उन्हे मिलना सम्भव न हो तो सज्जनो को चाहिए कि वे महाजनो को उसका महत्त्व समझाकर और आवश्यकता होने पर सत्याग्रह करके उसे प्राप्त करे। यह सब अच्छी राज्य-व्यवस्था के अगभूत ही है।

महाजनो के लिए हिसा की शक्ति और वृत्ति निबाहना जितना अनुकूल है, उतना अहिसा की शक्ति और वृत्ति निबाहना न हो, ऐसी बात तो है ही नही। लेकिन जब जन

दुर्बल हो जाते है, सज्जन उदासीन हो जाते है और दुर्जनो के प्रतिकार की सारी जिम्मेवारी महाजनो पर ही आ पडती है तब हिंसा का सामना हिसा से करने के अतिरिक्त उन्हे और कुछ नही सूझ सकता। लेकिन जब जन, सज्जन और महाजन, ये तीनो सहत हो जाते है—और, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, व्यापक राजकारण मे उनकी सहति अनिवार्य है—तब उनके लिए दुर्जनो का, चाहे फिर वे दुर्जन कितने ही सगठित क्यो न हो, अहिसा से मुकाबिला करना असम्भव नही है । बल्कि वही वाञ्छनीय है। कारण, उसके द्वारा दुर्जनो की जड का ही, याने उनकी दुर्जनता, का ही निर्मूलन करने का मौका रहता है।

जन, सज्जन और महाजनो का अहिसा की बुनियाद पर सहत होना ही दुर्जनो के लिए नित्य की धाक है । जैसा कि ऊपर सकेत किया ही गया है, इन तीनो की सहति अहिसा के बगैर सम्भव भी नही है । इन तीनो का सहत होकर दुर्जनो के लिए हमेशा का दबदबा कायम करना ही उत्तम राज्य-व्यवस्था का प्रधान लक्षण है । इसके मुकाबिले मे दूसरे सभी लक्षण गौण माने जाने चाहिए। उन सबके होते हुए भी अगर यह एक लक्षण न रहा तो वह राज्यव्यवस्था एक सर्वाग-सुन्दर परन्तु चैतन्य-विहीन चित्र के समान होगी।

४

[४२] आदर्श राज्यपद्धति मे परिश्रम के मूल्यमापन का तरीका आज की तरह केवल यान्त्रिक और गैर-जिम्मेवाराना

पारिश्रमिक मूल्यों की मीमांसा

नही रह सकता । कम या अधिक शक्तिमान् और बुद्धिमान्, कार्यक्षम और अक्षम आदि सभीके सगोपन तथा सरक्षण का दायित्व आदर्श राज्यपद्धति उठायगी । सभी एक-सा परिश्रम नही कर सकते । इसके अलावा, परिश्रम मे शारीरिक और बौद्धिक का भेद भी अवश्य रहेगा । फिर, शारीरिक परिश्रम मे भी साधारण और कुशल का भेद रहेगा । लेकिन इतने भेदो के होते हुए भी, जो भी कोई बगैर जी चुराये, सचाई के साथ, अपनी शक्ति के अनुसार किसी भी तरह का लोकोपयोगी परिश्रम करे, उसे समान अधिकार से जीवननिर्वाह के लिए पात्र मानना चाहिए ।

[४३] दरअसल तो शारीरिक या मानसिक सेवा की 'आर्थिक कीमत'—यह भाषा ही गलत है । कारण, सेवा नैतिक कोटि की वस्तु है और इसलिए उसकी कीमत नैतिक भाषा मे ही आकी जा सकती है । बीमारी की हालत मे एक सेवक बीमार की जो चिन्ता करता है, रात को जागता है, या सेवा-शुश्रूषा करता है, उसका मूल्य अर्थशास्त्र मे कैसे बैठाया जा सकता है ? न्यायाधीश जो निष्पक्ष निर्णय देता है, उसकी कीमत रुपये-पैसो मे कैसे लगाई जाय ? डूबते हुए आदमी को बचाने की, या किसीको धधकती हुई आग मे से बाहर निकालने की, कीमत त्रैराशिक मे किस तरह बैठ सकती है ? ये

सेवा की 'आर्थिक कीमत' यह भाषा ही गलत

भिन्न-भिन्न उदाहरण इसलिए दिये कि इनमे से कुछ बौद्धिक, कुछ शारीरिक और कुछ मिश्र स्वरूप के है। लेकिन है तीनो अनन्त मूल्यवान् अर्थात् अमूल्य। इसलिए सेवा या परिश्रम के मुआवजे की भाषा को छोड कर हरएक व्यक्ति अपनी सारी शक्ति लगा कर भक्तिपूर्वक समाज की सेवा करे और समाज व्यक्ति के जीवननिर्वाह का अपना कर्तव्य अदा करे, यही दृष्टि उपयुक्त है।

[४४] जीवन-निर्वाह का सिद्धान्त स्वीकारने पर मजदूरी-मजदूरी मे आज जो आत्यन्तिक विषमता पाई जाती है, उसका सहज ही उच्छेद हो जायगा।

कौटुम्बिक न्याय यथाशक्ति प्रामाणिक श्रम और तुल्य वेतन व समान संरक्षण

कुटुम्ब मे तो हम कभी-कभी ऐसा देखते है कि छोटे बच्चो का खर्च, कमानेवाले व्यक्तियो से भी अधिक हो जाता है। इन बच्चो ने तो कोई भी सेवा की ही नही होती। लेकिन उनके द्वारा सेवा भविष्य म होनेवाली होती है। फिर भी पहले इसका अदाज लगा कर कि भविष्य मे वे कितनी सेवा कर सकेंगे, उस हिसाब से उनके लिए खर्च नही किया जाता। वरन्, मा-बाप मानते है कि इन बालको की परवरिश करना उनकी जिम्मेवरी है। हरएक व्यक्ति के सम्बन्ध मे यह जिम्मेवरी राज्यव्यवस्था को स्वकर्त्तव्य मान कर उठानी है। उसी प्रकार व्यक्ति को अपनी सारी शक्ति स्वकर्त्तव्य की भावना से समाज-सेवा की भेंट कर देनी है। लेकिन व्यक्तिकृत सेवा का समाजकृत सरक्षण से समीकरण नही करना है। सारे

व्यक्तियो की सम्मिलित समाज-सेवा और समाज-कृत सारे व्यक्तियो का सम्मिलित सरक्षण—इनका समीकरण होगा ।

इसके अतिरिक्त यहा सरक्षण और मजदूरी या पारिश्रमिक के बीच का फर्क भी समझ लेना जरूरी है। प्रत्येक व्यक्ति को सरक्षण बिलकुल समान मिलेगा, लेकिन यह बात नही कि मजदूरी या वेतन भी समान दिया जायगा, क्योकि समान मजदूरी देने भर से समान सरक्षण मिल जाता हो, ऐसी बात नही । समान सरक्षण का दायित्व पूरा करने के लिए जिसे जितनी मजदूरी की जरूरत है, उसे उतनी देनी होगी । इससे यह फलित निकल सकता है कि अधिक शक्तिशाली लेकिन कम आवश्यकता वाले व्यक्ति को कम मजदूरी दी जायगी और अल्प शक्तिशाली परन्तु ज्यादा आवश्यकतावाले व्यक्ति को ज्यादा मजदूरी दी जायगी । ऐसे एक सेनापति को जिसका हाजमा अच्छा है, दो आने रोज मिल सकेगा और कमजोर हाजमा वाले सिपाही को रुपया रोज मिल सकेगा ।

[४५] साराश, ये सब सिद्धान्त सक्षेप मे इस प्रकार होगे —

मीमांसा का निष्कर्ष

(१) हरएक को सरक्षण समान मिलेगा (२) हरएक से सेवा यथाशक्ति यानी असमान मिलेगी। (३) सरक्षण समान मिलने का अर्थ वेतन का समान मिलना नही है। (४) लेकिन वेतन-वेतन के बीच आज जितनी असमानता पाई जाती है, उतनी असमानता किसी हालत मे नही

रह सकेगी। (५) वेतन कम-से-कम असमान, या भावात्मक भाषा मे, तुल्य होगा। (६) वेतन की असमानता सेवा की असमानता के तुल्य नही, बल्कि आवश्यकता की असमानता के तुल्य होगी। (७) सबकी सम्मिलित सेवा का सबको सम्मिलित रूप से मिले सरक्षण के साथ समान अनुपात रहेगा।

[४६] इन सात नियमो से निर्माण हो सकने वाली यह व्यवस्था कही पर भी परिचित न हो, ऐसी बात नही।

ठेकेदारों का दृष्टांत और श्रमभेदों का समाधान

हमारे गावो मे जब दस-पाच मजदूर मिलकर किसी काम का ठेका लेते है, तब वे सब समान कार्यों की सृष्टि नही करते, तो भी वे ठेके का बटवारा बहुत दर्जे तक समान कर लेते है। इसमे जी चुरानेवाले को काम टालने का मौका नही मिलता और ईमानदार लेकिन कुछ कमजोर आदमी को थोडी रिआयत मिल सकती है। सामुदायिक न्याय के कारण काम मे जोश दाखिल होता है और भ्रातृभाव बढता है। इसी बात को सर्व-समाज-व्यापी बना देना जरा भी असम्भव नही है।

शारीरिक परिश्रम के उपविभागो के विषय मे इस व्यवस्था के प्रयोग मे बहुत करके कोई कठिनाई नही होगी। लेकिन मुख्य अडचन है शारीरिक और मानसिक परिश्रमो की कीमत समान ठहराने के बारे मे। शिक्षितवर्ग की ओर से यह प्रश्न जटिल होगा। लेकिन इस व्यवस्था से निर्मित भ्रातृभाव की बदौलत जो सरक्षण और सन्तोष मिलेगा, उसपर अगर ठीक-ठीक ध्यान दिया जाय तो दरअसल यह अडचन नही रहनी

चाहिए। स्त्री-पुरुषो के वेतन मे असमानता तो बिलकुल बे-बुनियाद है। स्त्रियो के कार्य मे अधिक सातत्य, सावधानी और कला पाई जाती है। इसके विपरीत, कुछ ज्यादा मेहनत के काम आम तौर पर स्त्रिया नही कर सकती। अर्थात् कुल मिला कर दोनो तरफ से आर्थिक समानता कायम करने मे कोई कठिनाई नही है। स्त्री-पुरुष-भेद, शरीर-परिश्रम के उपभेद, शारीरिक और मानसिक परिश्रम का भेद, मानसिक परिश्रम के अन्तर्गत भेद, ये सारे राष्ट्रीय दृष्टि से समान भूमिका पर है। प्रामाणिक और अप्रामाणिक—यह वास्तविक भेद है। उसी प्रकार कुशल और अकुशल का भेद भी अनिवार्य है। अप्रामाणिकता को सरक्षण देने की जिम्मेवरी तो नही, लेकिन उसे सुधारने की जिम्मेवरी राज्यसत्ता पर अवश्य है। और सुधार की जिम्मेवरी स्वीकारने पर आनुषङ्गिकरूप से सरक्षण भी उसमे आ ही जाता है। अकुशल परिश्रम को कुशल बनवाते जाना भी राज्यव्यवस्था का ही एक अग है। तथापि कुछ परिश्रम स्वभावत ही कम कुशल होते है और उनकी राष्ट्र को आवश्यकता भी होती है। ऐसे कामो पर कम कुशल व्यक्ति नियुक्त किये जा सकते है।

सामुदायिक जिम्मेवरी उत्कृष्ट प्रेरक तत्त्व

[४७] आज यह मान लिया गया है कि राष्ट्र की कुशलता, प्रामाणिकता, उत्साह और जिम्मेवरी को प्रोत्साहन देने का एकमात्र मार्ग कम या अधिक वेतन देना है। लेकिन उसकी अपेक्षा सामुदायिक जिम्मेवरी मनुष्य को कही अधिक प्रेरणा देने वाली वस्तु है। कारण,

सामाजिक गौरव और आत्म-सतोष उसमे निहित है। लडके के लिए मा की शाबाशी जितनी उत्साहवर्धक हो सकती है, उतने सैकडो अवान्तर पारितोषिक नही हो सकते। और यदि कुछ उत्साहवर्धक हो भी तो साथ ही वे लोभ-वर्धक भी होते है। अत सामाजिक गौरव को और उससे भी बढकर आत्म-सतोष को ही प्रेरक तत्त्व मान कर तुल्यता के सिद्धान्त पर आर्थिक व्यवस्था करने के सिवा सार्वत्रिक 'सन्तुलन' का दूसरा कोई भी उपाय नही है।

इस दृष्टि से हिन्दूधर्म का एक महान् प्रयोग . वर्णव्यवस्था

[४८] इस दृष्टि से वर्णव्यवस्था की कल्पना कर के हिन्दू धर्म ने एक बडा महत्त्वपूर्ण प्रयोग किया है। लेकिन उसमे ऊच-नीच के भाव घुस जाने के कारण उसका असली विशुद्ध रूप दूषित हो गया और आगे चल कर तो आर्थिक प्रतियोगिता के लालच की बदौलत बिलकुल बरबाद ही हो गया। व्यक्ति समाज का दिया हुआ काम करे समाज व्यक्ति की योग्यता देख कर उसे काम दे, योग्यता के विकास मे आनुवशिक सस्कारो की सहायता ली जाय, तदनुरूप तैयार हो कर उस कार्य को उठाना व्यक्ति अपना कर्तव्य समझे, दूसरे कोई व्यक्ति उसमे उससे प्रतिद्वन्द्विता न करे, सब को समान सरक्षण और तुल्य वेतन मिले, जिम्मेवरी से अपने-अपने काम करने वाले तमाम व्यक्ति कर्तव्यनिष्ठ के नाते समकक्ष माने जाय और उनकी स्वकर्मरूप पूजा से भगवान् प्रसन्न हो--इस प्रकार, थोडे मे वर्णव्यवस्था का स्वरूप है।

इसी तरह की किसी-न-किसी व्यवस्था की जरूरत आदर्श राज्यपद्धति को होगी। (१) वेतन की तुल्यता, (२) होड का अभाव, (३) आनुवशिक सस्कार से लाभ उठानेवाली शिक्षण-योजना—यह वर्णव्यवस्था का सार है। पहले दो सिद्धात अर्थ-शास्त्र के महान् प्रमेय है और तीसरा समाजशास्त्रीय है। कुछ लोगो के खयाल से यह विवादास्पद ह। यदि वैसा साबित हो तो भी पहले दो अबाधित ही रहेगे और तब उतने ही आधार पर व्यवस्था स्थिर करनी पडेगी। परन्तु विचार और अनुभव की कसौटी पर कसने के बाद अगर तीसरी बात भी निर्विवाद-रूप से खरी उतरे—और ऐसा होना बहुत सम्भव है—तो उच्चनीच-भाव की कल्पना किये बिना और उसे बिलकुल एक फौलादी चौखटे का रूप न देते हुए, वर्णव्यवस्था का ही पुनरुज्जीवन करना पडेगा।

× × ×

आग्रह प्रकार का चाहिए, न कि आकार का

[४९] सेवाभाव, स्वावलम्बन, अहिंसक त्राण और तुल्य पारिश्रमिक—इन चार खम्भो पर राज्यपद्धति का भवन खडा करना चाहिए। राज्यपद्धति का स्थूल आकार सामाजिक मनोभूमिका और स्थानिक एव कालिक अवस्था के अनुसार भिन्न-भिन्न हो सकता है। जिस कुटुम्ब मे मा-बाप और बिलकुल छोटी उम्र के बच्चे हो उसका स्वरूप एक तरह का होगा, जिसमे मा बाप और जवान लडके-लडकिया हो उसका दूसरी तरह का और जिसमे बिलकुल बूढे मा-बाप और प्रौढ लडके-

लडकिया हो, उसका तीसरी तरह का। इसी तरह बडा कुटुम्ब, छोटा कुटुम्ब, सामुदायिक कुटुम्ब, विभक्त कुटुम्ब आदि कई कल्पनाए नैसर्गिक और औपाधिक भेदो के कारण की जा सकती है। इन सब कुटुम्बो मे कौटुम्बिक तत्त्व एक ही रहेगा। स्थूल पद्धति अलग-अलग मानी जा सकती है।

चिकित्सा-पद्धतियो के अभिमानी चिकित्साग्रही बन जाते है। उसी तरह राजनैतिक विचारक, भिन्न-भिन्न वादो के समर्थक और अभिमानी बन कर कहने लगते है कि अमुक वाद या पद्धति सभी देशो और सभी कालो के लिए लागू होनी चाहिए। लेकिन गणित जैसे स्थिर शास्त्र को भी आज सापेक्ष-वाद का कायल होना पड रहा है। राजनीतिशास्त्र या समाज-शास्त्र तो स्थूल अर्थ मे स्थिरता का दावा कभी कर ही नही सकता।

वस्तुत ऐसे मूलभूत शास्त्र बहुत थोडे है जिन्हे 'शास्त्र' सज्ञा तत्त्वत लागू हो सके, और वे है मनुष्य के नियामक। दूसरे सारे शास्त्र—जो शास्त्र के नाम से पहचाने जाते है—केवल व्यावहारिक नियमन है तथा मनुष्यो द्वारा कल्पित और मनुष्यो द्वारा ही नियम्य है। नियामक शास्त्र और नियम्य शास्त्रो के स्वरूप भिन्न-भिन्न है। इसका ध्यान न रखते हुए नियम्य शास्त्रो को भी नियामक शास्त्र का रूप देने की चेष्टा करना अशास्त्रीय बुद्धि का लक्षण है।

इसलिए जन-सुखदायी और जन-हितकारी राज्यपद्धति मे जो चार आवश्यक प्रमेय है, उन्हीका आग्रह रख कर अवान्तर सारी बाते तत्कालीन आवश्यकता पर छोड देना उचित है।

प्रश्न चौथा

प्रश्न—क्या अहिसा पर अधिष्ठित राज्यपद्धति टिक सकेगी ?

उत्तर—[५०] इस प्रश्न के मूल मे यह मान्यता-सी रही है कि हिसा पर निर्मित राजपद्धति टिक सकती है। वस्तुत

हिसक प्रयोगों की परिणति संकुल युद्ध

अबतक के सारे इतिहास मे सभी ने राज्यपद्धति को स्थायी बनाने के लिए हिसा के ही प्रयोग किये है। किन्तु कोई भी राज्यपद्धति हिसा के आधार पर टिक सकी हो, ऐसा अनुभव कही भी नही हुआ है। तो भी हमारे मन पर हिसा की अबतक ऐसी कुछ पकड बैठी हुई है कि हिसा के हजारो बार असफल होने के बाद भी उसकी सफलता मे हमारी श्रद्धा बनी ही हुई है। हिसा की कोई भी पद्धति टिकी नही, यह निषेधात्मक सबूत भी इस निष्कर्ष के लिए काफी होना चाहिए कि अहिसा के बिना राज्यपद्धति टिक नही सकेगी। और इसके साथ ही हिसात्मक पद्धतिया, थोडी-बहुत ही क्यो न हो, जो टिक सकी या टिक रही है, वे लोकमत की शक्ति का अर्थात् अप्रत्यक्षरूप से अहिसा का ही पृष्ठपोषण प्राप्त करने के लिए उत्सुक रहती है, इस बात पर ध्यान देने के बाद कट्टर-से-कट्टर हिसावादी के दिल मे यह प्रबल शका उठनी चाहिए कि हो-न-हो, राज्यपद्धति के

स्थायित्व का अधिष्ठान अहिसा ही है। अबतक के हिसा के प्रयोग असफल हुए साफ दीख पडते है। प्रयोगो की असफलता का कारण हिसा के बदले दूसरी कोई कमी होगी, इस तरह के सन्देह का लाभ भी हिसा को कितनी बार उठाने दिया जाय? सच तो यह है कि 'सेर को सवा सेर' के न्याय से एक की हिसा की अपेक्षा दूसरा अधिक हिसा करता जाय, उससे तीसरा और अधिक, ऐसा करते-करते हम 'टोटल वॉर' (सकुल-युद्ध) तक आ पहुचे।

उसपर से अहिसा की युक्ति-सिद्धता

[५१] लेकिन एक तरह से यह अच्छा ही हुआ। कोई भी तत्त्व नैतिक दृष्टि से उचित है या अनुचित और व्यावहारिक दृष्टि से लाभकारक है या हानिकारक, इसका निर्णय करने की नीतिशास्त्रकारो की एक कसौटी यह है कि उस तत्त्व को सार्वजनिक बना कर देखा जाय, अर्थात् उसे सब लोगो पर लागू करके उसके व्यापकतम प्रयोग का परिणाम देखा जाय। जो तत्त्व व्यापक करने पर काफूर होना चाहता है, टिक नही सकता, आत्मघात कर लेता है, उस को नीति की और व्यवहार की दृष्टि से बेशक निकम्मा ही समझना चाहिए। भीख मागना उचित है या अनुचित, इसका निर्णय करना हो तो सभी भीख माग कर देखे। वैसा करने से भिक्षा टिक नही सकती, स्वनाश कर लेती है अर्थात् भिक्षा मागना अनुचित सिद्ध हुआ। इस तरह का प्रयोग हिसा के विषय मे केवल तत्त्वनिर्णयार्थ कौन करे? लेकिन 'सेर को सवा सेर' के न्याय से बढते-बढते यूरोप के राष्ट्र

आज अनायास ही नीतिशास्त्रकारो की कसौटी के मुताबिक हिसा की युक्तायुक्तता प्रमाणित करने के पराक्रम म प्रवृत्त हो गए है।

अब व्यक्तिगत मारपीट, गिरोहो के झगडे और फुटकर लडाइया करके देखने की कोई जरूरत ही नही रह गई है। करना ही हो तो सकुलयुद्ध करना होगा, अथवा युद्ध करना ही छोड देना होगा। इसके सिवा तीसरा कोई रास्ता यूरोप के पराक्रमी और प्रयोगी लोगो ने बाकी नही रहने दिया है। शायद अब इतना ही बाकी रह जाता है कि एक सकुलयुद्ध मे परास्त राष्ट्र दूसरे अनेक राष्ट्रो की सहायता ले कर राष्ट्रों के सकुलयुद्ध की बजाय राष्ट्रसघो या खण्डो के सकुलयुद्ध करे। लेकिन यह सिलसिला कितना भी बढाया जाय तो भी उसके बढने की अब गुजाइश नही रही है। हिसा के व्यापकतम और पराकाष्ठा के प्रयोग के बाद हिसा आत्मघात कर के अहिसा को स्थान दे दे, इसके सिवा गत्यन्तर नही है। केवल विवेकी लोकमत ही नही, अपितु सर्वसाधारण लोकमत भी इसी निर्णय पर पहुचा है या पहुचना चाहता है।

अहिंसा में 'सेर के लिए सवा सेर' नहीं

[५२] इस प्रकार हमारे विचार-क्षेत्र मे से हिसा की पद्धति तर्क कर देने के बाद अहिसा की ही पद्धति बाकी रह जाती है। और फिर अहिसा के बारे में शका या सदेह की गुजाइश न रह कर गुजाइश केवल उसके श्रद्धापूर्वक प्रयोग की ही रह जाती है। 'सेर को

लिये सवा सेर' वाला न्याय अहिसा मे बाधक नही होता। मुझसे जिसकी अहिसा अधिक हो, वह मुझे कुचलना नही चाहता, मेरा हृदय-परिवर्तन करना चाहता है। उसमें उसे स्वभावत· सफलता मिलती है और मेरे लिए भी वह सफलता ही साबित होती है। 'एक की जीत याने दूसरे की हार,' यह रीति हिसा की है। अहिंसा मे तो जो एक की जीत है, वही दूसरे की जीत है। अगर कोई वादविषयक प्रश्न शेष रह ही जाय तो अहिसा का तरीका अत्यन्त सरल है वह तटस्थ पचो को सौप दिया जाय।

अहिसा का राष्ट्रव्यापी प्रयोग एक तरह से व्यकिगत प्रयोग की अपेक्षा सुलभतर

[५३] अहिंसा का इस ढग का राष्ट्रीय प्रयोग एक तरह से व्यक्तिगत प्रयोग की अपेक्षा अधिक सुगम होगा, क्योकि व्यक्तियो के सम्बन्ध मे तो उनमें विरोध पैदा हो कर उनमे से अहिसक व्यक्ति की अहिसा का असर हिंसक व्यक्ति के चित्त पर होने से पहले ही या बगैर उसको मौका मिले ही, यह हो सकता है कि हिसक व्यक्ति आपे से बाहर हो कर उसका काम तमाम कर दे। ऐसी सम्भावना व्यक्तिगत सम्बन्धो मे ही होती है, लेकिन राष्ट्रो के सम्बन्ध में इस तरह की कोई सम्भावना नही होती। दो राष्ट्रों मे विरोध उपस्थित हो गया है, उनमे से एक समूचे राष्ट्र ने एकाएक पागल हो कर दूसरे अहिसक राष्ट्र का उसकी अहिंसा से प्रभावित होने से पहले ही, अचानक सफाया कर दिया है, इस तरह की कल्पना नही की जा सकती। लेकिन हम देखते है कि व्यक्ति-

गत युद्ध मे, जहा कि व्यक्ति के पागल होजाने की सम्भावना होती है, अहिसक व्यक्ति ने हिसक व्यक्ति पर करीब-करीब हमेशा विजय पाई है। तो फिर राष्ट्रीय युद्ध मे, यानी जहा ऐसे दीवानेपन की गुजाइश नही है, अहिसा का आश्रय ले कर सज्जित होनेवाला राष्ट्र विजयी क्यो न हो, इसका कोई उत्तर नही है। इसके अलावा हिसा की तरह जहा 'एक की जय और दूसरे की क्षय' ऐसा हाल नही है, अहिसक राष्ट्र की विजय के विषय मे सन्देह करने का कोई कारण नही होना चाहिए।

अहिंसा के लिए भी शिक्षा, सङ्गठन और त्याग अनिवार्य

[५४] 'या तो अहिसक राज्यपद्धति या सकुलयुद्ध की तैयारी?'—इस तरह की समस्या उपस्थित होने पर अहिसा का रास्ता अपने आप ही खुल तो जाता है, लेकिन फिर भी अहिसक राज्यपद्धति के लिए सगठन और शिक्षण-प्रचार आदि की आवश्यकता रहेगी ही। सकुल-युद्ध के लिये जिस प्रकार के सगठन की जरूरत होती है, उसकी अपेक्षा अहिसा का सगठन यद्यपि भिन्न प्रकार का होगा, तथापि उसे इतना व्यापक होना पडेगा कि वह जनता के प्रत्येक व्यक्ति को स्पर्श कर सके। इस विषय मे योजना ऊपर सुझाई ही है। उसे कार्यान्वित करने के पहले अहिसा की ओर सहज ही प्रवृत्त लोकमत को ज्ञानपूर्वक अहिसक बनना पडेगा। यो तो सर्वसाधारण जनता की वृत्ति हमेशा ही अहिसक होती है, लेकिन वह तत्त्वज्ञान से अहिसक बननी चाहिए। मतलब यह कि निष्क्रिय अहिसा

से काम नही चलेगा। उसके बदले सक्रिय—जीवन के सभी क्षेत्रो को व्यापनेवाली—अहिसा की जरूरत होगी। अहिसा एक सार्वभौम निष्ठा या दर्शन है। दर्शन एकागी नही होता, वह जीवनव्यापी होना चाहिए। अगर यह मान लिया जाय कि समाज की आर्थिक सामाजिक वर्तमान रचना ज्यो-की-त्यो रहेगी तो अहिसा के लिए उसमे गुजाइश कैसे रहेगी? लेकिन अगर राष्ट्र के अन्तर्व्यवहार और आन्तरराष्ट्रीय व्यवहार की कुल व्यवस्था अहिसा के सिद्धान्त के आधार पर खडी की जाय तो अहिमा मे ऐसी कोई वजह नही है कि वह व्यवस्था टिक न सके।

आज हम देखते है कि हिमक राज्यपद्धति की रक्षा के लिए राष्ट्रो को जबरदस्त त्याग करना पडता है, लेकिन अहिमक पद्धति की रक्षा की कल्पना करते समय अलबत्ते आशा की जाती है कि शरीर और सम्पत्ति को जरा भी धक्का लगे बिना ही काम बन जाना चाहिए। यद्यपि अहिमक सरक्षण सब तरह से कुशल है, तथापि यह आश्वासन नही है कि वह यो ही अनायास सम्पन्न हो जायगा। कल्पनाशक्ति को थोडी गति दे कर आत्मक्लेश और प्राणार्पण के लिए—प्रतिपक्षी को जरा भी पीडा न देते हुए शान्त प्राणार्पण के लिए—तैयार रहना होगा। अहिसा की लडाई रणक्षेत्र मे नही, हृदयक्षेत्र मे होती है। लेकिन लडाई के लिए तैयारी तो अहिसा मे चाहिए ही। सारे ससार मे अहिसा का प्रचार हो जाने के बाद भी तैयारी की यह जरूरत न रहे, ऐसी बात नही। कभी एक बार का कमाया हुआ जन्मभर खाने को

गुजाइश न तो हिसा मे है और न अहिसा ही मे। प्रतिकार-शक्ति सर्वदा जाग्रत रखनी ही होगी। अहिसक जीवन के माने प्रासगिक त्याग ही नही, वरन् निरन्तर त्याग है और निरा त्याग ही नही, अपितु त्याग का आनन्द भी।

अहिंसक व्यवस्था अतिमानवीय नहीं है

[५५] लेकिन बहुतो को यह शका होती है कि यह सब हो कैसे ? कोई पूछते है कि इसके लिए कही अति-मानवो की जरूरत तो न होगी ? अति-मानवो की कल्पना करने के बाद प्रतिकार का सवाल ही नही उठता। जब हम प्रतिकार की बात कहते है तब हम सामान्य मानवकोटि का ही विचार करते है। केवल पशुत्व को ही बाद देते है। और यह भी अपेक्षा नही करते कि पशुत्व सभी मनुष्यो मे से सर्वथा नष्ट हो जायगा। इतनी ही अपेक्षा करते है कि पशुत्व मनुष्यता के अकुश मे रहे। इसलिए अहिसक रचना करना किसी भी तरह अशक्य नही है। और ऐसी अहिसक रचना जितनी स्थायी होगी, उतनी दूसरी कोई भी व्यवस्था नही हो सकती।

प्रश्न पाँचवां

प्रश्न– जब कि दूसरे सभी राष्ट्र हिसावादी है, क्या कोई एक राष्ट्र अकेला अहिंसावादी रह सकता है ?

उत्तर– [५६] अहिसक विचार प्रणाली के अनुसार एक ही मानव-समाज मे विभिन्न राष्ट्रों की कल्पना केवल सुभीते की ही बुनियाद पर की जा सकती है।

अकेला भी अहिंसक राष्ट्र सार्वभौम सहानुभूति के वज्रकवच में सुरक्षित

किसी भी एक राष्ट्र को अगर अहिसा की सुबुद्धि प्राप्त हो जाय तो वह राष्ट्र अपने आपको दूसरे राष्ट्रो से पृथक् और विरोधी नही मानेगा। आसपास के राष्ट्रो के उचित हितसम्बन्धो की रक्षा की वह उतनी ही चिन्ता करेगा, जितनी कि अपने निज के। हिसावादी होने पर भी राष्ट्र समूचे दीवाने हरगिज नही होते। बल्कि यह कहना चाहिए कि राष्ट्र एक-दूसरे की स्पर्धा के कारण हिसावादी बने है। मनुष्य को केवल हिसा के लिए हिसा नही भाती। इसलिए अगर कोई ऐसा राष्ट्र जो अहिसक विचार के अनुसार व्यवहार करने की इच्छा रखता है और उसीके अनुरूप दुनिया से अविरोधी सम्बन्ध जोडने की कोशिश करता है तो वह आसपास के राष्ट्रों की विवेकवृत्ति को जगाकर, उसे गति देगा और उतने अश मे उन राष्ट्रों को अहिसा के रास्ते पर लायेगा।

अहिसक राष्ट्र जबरदस्ती अपना माल दूसरो पर नही लादेगा। अहिसक राष्ट्र मे हरएक गॉव श्रमनिष्ठ और स्वावलम्बी रहेगा। इसलिए दूसरे राष्ट्रो की लोभवृत्ति के लिए उसमे गुन्जाइश नही होगी। अगर दूसरे राष्ट्र उसके और अपने हितसम्बन्धो मे विरोध माने तो उसमे से रास्ता निकालने के लिए और उनको पूरी तरह सन्तोष देने के लिए मित्रता को भावना से मदद करेगा। दूसरे राष्ट्रो पर अकालादि सकट आ पडे तो उनकी यथासम्भव सेवा निष्कामभाव से करेगा। वादविषयक प्रश्न पञ्चो को सोपने के लिए तैयार रहेगा। दूसरे राष्ट्र अगर पचो द्वारा न्याय कराने को राजी न हो, या राजी होने पर भी उनका फैसला न माने और उस पर धावा बोल दे तो वह उनका अहिसक प्रतिकार करेगा। इस तरह की वृत्ति रखनेवाला अकेला राष्ट्र एकाकी नही रहेगा। वह सारी दुनिया भर मे अपने लिए सहानुभूति का वज्रकवच निर्माण करेगा। ऐसे राष्ट्र की कल्पना करना असम्भव क्यो हो?

अहिसक राष्ट्र अकुतोभय

[५७] अच्छा, अगर बाहरी राष्ट्र आक्रमण करना चाहेगे, तो क्यो—(अ) क्या इसलिए कि उनके पास जमीन कम और जनसख्या अधिक है, और हमारे पास जमीन भरपूर और लोकसख्या अल्प है? अगर ऐसा हो तो उनमे से जो लोग हमारे देश मे रहना चाहते होगे और यहा की व्यवस्था मे शरीक होना चाहते होगे, उनका हम स्वागत ही क्यो न करेगे? ऊपर कहा जा चुका है कि अहिसक राष्ट्र अपने आपको पृथक् नही मानता।

प्राचीन हिन्दुस्तान की वृत्ति शास्त्रीय और परिनिष्ठित अहिसा की न कही जा सके तो भी क्या हिन्दुस्तान ने सकट-ग्रस्त पारसियो को जगह नही दी ? और उससे हिन्दुस्तान का क्या नुकसान हुआ ? (आ) अथवा क्या दूसरे राष्ट्र दुर्भिक्षादि किसी आपत्ति के कारण चढाई करेगे ? अहिसक राष्ट्र स्वय थोडी-बहुत मुसीबत उठाकर भी ऐसो की मदद किये बिना कैसे रहेगा ? (इ) अथवा लोभवृत्ति के अधीन होकर व्यापार की मण्डी पर कब्जा करने के लिए हम पर कोई आक्रमण करेगा ? लोभ की ताली एक हाथ से कभी नही बजती । हम अगर आलसी या विलासी होगे तो पडोसी के लोभ के लिए हम मौका देगे । लेकिन वैसी हालत मे हम अहिसक ही नही होगे । (ई) अथवा क्या हम पर आक्रमण का आयोजन सरहद पर रहनेवाले सम्मिश्र समाज के अन्तर्गत विदेशियो के हित-सम्बन्धो के झमेले के कारण होगा ? उस हालत मे इस समस्या का ऐसा समाधान साधना, जो दोनो पक्षो को मान्य हो, दुर्बल अहिसावाले राष्ट्र के लिए असम्भव भले ही हो, पर वीर्यवती अहिसावाले राष्ट्र के लिए सम्भव क्यो न होगा ?

और मान लीजिये कि आखिर लडाई तक ही नौबत आ गई तो हिसा ने आज तक राष्ट्रो को जितना सरक्षण दिया, उससे कम सरक्षण उस राष्ट्र को अहिसा से क्यो मिलेगा, जिसमे आमरण कष्ट झेलनेवाले वीर सन्नद्ध हो ?

[५८] सच तो यह है कि किसी राष्ट्र के अहिसावादी बनने पर उसके स्थायित्व के विषय मे जो सदेह उठता है,

उसमे कल्पनाशक्ति की कमी है।

दुर्बल अहिंसा का लक्षण, उसमें रक्षण का अभाव

वस्तुत आज हिसक लडाई करनेवाले लोगो को कुछ कम कष्ट उठाने पडते हो, सो बात नही है। इतनी सारी आहुतिया और बलिदान हिसा की वेदी पर चढाने के बाद जो लाभ होता है, उसकी अपेक्षा उसी बलिदान को अहिसा के लिए करने की तैयारी मान लिया जाय तो कम लाभ होगा, यह कल्पना मानसशास्त्र मजूर नही करेगा। लेकिन हिसा के लिए जो बहुत भारी बलिदान की कल्पना करके, अहिसा के लिए अल्प बलिदान या अबलिदान की कल्पना की जाती है, यह दुर्बल अहिसा है। ऐसी अहिसा दुनिया मे टिक नही सकती, यह बात पक्की है।

[५९] लेकिन भीतरी अराजकता और बाहरी आक्रमण ये दो भय हमारी कल्पना को हमेशा परेशान करते रहते है।

अहिंसक व्यवस्था भीतरी अराजकता और बाहरी आक्रमण से निर्भय

जब अहिसक राज्यपद्धति सबके सुख के लिए प्रतिज्ञा किये बैठी है, तब इस तरह के भय से वह भयभीत न होगी। सबकी पारस्परिक अविरोधपूर्वक चिन्ता करनेवाली व्यवस्था के प्रचलित होते हुए भी, और हर किसी के दुख का निवारण करने की सुविधा होते हुए भी, अगर कोई दगाफसाद करने पर आमादा हो जाय तो उसका बन्दोबस्त करने की बहुत बडी समस्या प्रश्नोत्तर का विषय नही होनी चाहिए। अहिसक व्यवस्था मे यह स्थिति गृहीत है कि जनसेवक साधारणत

अपने-अपने आसपास के लोगो की सेवा करते हुए सबके निकट सम्पर्क मे आते है। यह मान लेने पर कि ऐसे सेवको की स्वयसेना सर्वत्र मौजूद है, एकाध जगह अगर बल्वा हो जाय तो वह थोडे-से बलिदान की तैयारी से शान्त किया जा सकेगा। 'जिन्होने हमारी सेवा की है, वे हमारे परिचित बधु हमारे विरोध मे मरने के लिए तैयार है और हमे अभयदान देकर चाहे जब हमारी शिकायते सुनने को प्रस्तुत है'—यह दृश्य दगा शान्त करने के लिए पर्याप्त माना जाना चाहिए।

आदर्श अहिंसक व्यवस्था में पुलिस नहीं, सेवक-वर्ग रहेगा

[६०] लोग पूछते है, "तुम्हारी राज्यपद्धति मे फौज नही तो कम-से-कम पुलिस रहेगी या नही?" जवाब देनेवाले जवाब देते है, "पुलिस रहेगी, मगर कुछ और ढग की।" लेकिन इससे दूसरी भाषा मे यह क्यो नही कहा जाता कि 'पुलिस नही रहेगी, जागरूक सेवक-वर्ग रहेगा और रहेगे स्वकर्तव्य का भान रखनेवाले नागरिक?" ऐसा उत्तर नही दिया जाता—क्योकि ये प्रश्नोत्तर आदर्श व्यवस्था के विषय मे नही है, किन्तु फिलहाल अहिसा के मार्ग पर हमारी गति-विधि के अनुसार और वर्तमान परिस्थिति का विचार न छोडते हुए हमारी कल्पनाशक्ति जितनी दूर तक देख सकती है उसके अनुसार दिये गए है।